ISSN 2277-5897 SABLOG
PEER REVIEWED JOURNAL

लोक चेतना का राष्ट्रीय मासिक

135

सबलोग

जनवरी 2025 • ₹ 50

नया साल और नये सवाल

- दक्षिण कोरिया की वह रात
- इतिहास और अतीत का तनाव
- शहरी खेती में जैव विविधता

अलविदा
जावेद अनीस

सबलोग के शुरूआती दिनों से ही वे 'सबलोग' के साथी रहे। मध्यप्रदेश की राजनीति और समसामयिक राष्ट्रीय मुद्दों पर 'सबलोग' में उन्होंने नियमित लिखा। छात्र-जीवन से ही जनपक्षीय सरोकार और प्रगतिशील चेतना के लिए वे प्रतिबद्ध रहे। इसी प्रतिबद्धता के कारण एक सामाजिक कार्यकर्ता और प्रखर पत्रकार के रूप में उनकी प्रतिष्ठा सर्वविदित है।

निडरता उनकी पत्रकारिता की पहचान थी तो प्रेम उनकी अभिव्यक्ति की आवाज था। निजी जिन्दगी में भी उन्होंने खुलकर प्रेम किया और उसी प्रेम को अपना जीवन बना लिया। उनका जन्म एक मुस्लिम परिवार में हुआ था, लेकिन सभी धर्मों के प्रति उनके मन में गहरा सम्मान था। इसलिए जिस शिद्दत से वे ईद मनाते थे उसी शिद्दत से अपनी हिन्दू पत्नी के साथ हर दीवाली में अमन का दीया जलाकर अँधेरा दूर करने की कोशिश में लगे रहते थे।

प्रेम से लबालब व्यक्ति घृणा कर ही नहीं सकता, जाहिर है वे पूरी दुनिया में प्रेम को खिलते देखना चाहते थे। वे अमन और साम्प्रदायिक सद्भाव की दुनिया के हिमायती थे। उनका विरोध धर्म के पाखण्ड और हिंसक कट्टरता से था। देश और दुनिया में बढ़ती साम्प्रदायिकता और धार्मिक कट्टरता उन्हें निराश कर रही थी। इतना निराश कि उन्होंने स्वयं को ही समाप्त करने का फैसला ले लिया। उनके इस फैसले से हम असहमत, स्तब्ध और अत्यन्त दुखी हैं।

यह एक अजीब विडम्बना है कि सच, न्याय और मानवाधिकार के लिए लड़ने वाले भोपाल के प्रसिद्ध पत्रकार जावेद अनीस ने अपनी आत्महत्या के लिए मानवाधिकार दिवस (10 दिसम्बर) को ही चुना। उनका यह निष्ठुर अवसान हमारे समय की भयावहता का मात्र प्रतीक बनकर रह जाएगा या घृणा, धार्मिक कट्टरता और उन्माद की जगह सामाजिक सद्भाव की स्थापना का नया प्रस्थान बिन्दु होगा?

समय की क्रूरता से वे और लड़ नहीं पाये, इसका हमें अफसोस है। लेकिन हिन्दी पत्रकारिता और सामाजिक कार्य के क्षेत्र में उनका जो योगदान है, उसके लिए हम उनको सलाम करते हैं और सबलोग परिवार की तरफ से उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

सबलोग-135

वर्ष 16, अंक 1, जनवरी 2025

ISSN 2277-5897 SABLOG
PEER REVIEWED JOURNAL
www.sablog.in

सम्पादक
किशन कालजयी

संयुक्त सम्पादक
प्रकाश देवकुलिश
राजन अग्रवाल

उप-सम्पादक
गुलशन चौधरी

ब्यूरो
उत्तर प्रदेश : शिवाशंकर पाण्डेय
बिहार : कुमार कृष्णन
झारखण्ड : विवेक आर्यन

समीक्षा समिति (Peer Review Committee)
आनन्द कुमार
रत्नेश्वर मिश्र
मणीन्द्र नाथ ठाकुर
मंजु रानी सिंह
सफदर इमाम कादरी
प्रमोद मीणा
राजेन्द्र रवि
मधुरेश
महादेव टोप्पो
विजय कुमार
आशा
सन्तोष कुमार शुक्ल
अखलाक 'आहन'
अभय सागर मिंज

सम्पादकीय सम्पर्क
बी-3/44, तीसरा तल, सेक्टर-16,
रोहिणी, दिल्ली-110089
+ 918340436365
sablogmonthly@gmail.com

सदस्यता शुल्क
एक अंक : 50 रुपये–वार्षिक : 600 रुपये
डाक खर्च सहित 1100 रुपये

सबलोग
खाता संख्या-49480200000045
बैंक ऑफ बड़ौदा,
शाखा-बादली, दिल्ली
IFSC-BARB0TRDBAD
(Fifth Character is Zero)

स्वामी, सम्पादक, प्रकाशक व मुद्रक किशन कालजयी द्वारा बी-3/44, सेक्टर-16, रोहिणी, दिल्ली-110089 से प्रकाशित और लक्ष्मी प्रिण्टर्स, 556 जी.टी. रोड शाहदरा दिल्ली-110032 से मुद्रित।

पत्रिका में प्रकाशित आलेखों में व्यक्त विचार लेखकों के हैं, उनसे सम्पादकीय सहमति अनिवार्य नहीं।

पत्रिका अव्यावसायिक और सभी पद अवैतनिक।
पत्रिका से सम्बन्धित किसी भी विवाद के लिए न्यायक्षेत्र दिल्ली।

संवेद फाउण्डेशन का मासिक प्रकाशन

नया साल और नये सवाल

उम्मीदों की बाट जोहता नया साल : **सेवाराम त्रिपाठी** 4

नया दौर : नयी चुनौतियाँ : **अजय तिवारी** 6

मानवीय सभ्यता का करुण पक्ष : **ज्योतिष जोशी** 8

पूँजीवाद की उच्चतर अवस्था है क्रॉनी कैपिटलिज्म : **अनिल राय** 10

सर उठाते सवाल : **मृत्युंजय श्रीवास्तव** 13

आज की बदलती दुनिया : **विजय कुमार** 15

अर्थव्यवस्था और तकनीकी विकास की गलत राह : **मृत्युंजय प्रभाकर** 18

हिंसा और असमानता में घिरी अस्मिता : **शान कश्यप** 21

सृजनलोक

छह कविताएँ : **शालू शुक्ला,** टिप्पणी : **ज्योतिष जोशी,** रेखांकन : **प्रीतिमा वत्स** 24

विशेष लेख

हमारा संविधानः लोकतान्त्रिक राष्ट्र-निर्माण की आधारशिला : **आनन्द कुमार** 26

राज्य

महाराष्ट्र / कागभगोड़ा खा गया खेत : **श्रीकान्त आप्टे** 30

उत्तर प्रदेश / विपक्ष में फिर हुआ सुराख : **शिवाशंकर पाण्डेय** 33

झारखण्ड / आर्थिक चुनौतियों की कसौटी पर हेमन्त : **विवेक आर्यन** 35

मणिपुर / सांस्कृतिक विभाजन की निरर्थक अवधारणा : **जमुना सुखाम** 37

स्तम्भ

चतुर्दिक / कुछ आशंकाएँ, कुछ सम्भावनाएँ : **रविभूषण** 39

तीसरी घण्टी / कारवाँ-ए-हबीब में शामिल होने का मतलब : **राजेश कुमार** 42

यत्र-तत्र / प्रतिबद्धता का क्षरण : **जय प्रकाश** 45

देशान्तर / दक्षिण कोरिया की वह रात : **धीरंजन मालवे** 48

परती परिकथा / इतिहास और अतीत का तनाव : **हितेन्द्र पटेल** 51

कविताघर / बदनसीब तारीख और कविता : **प्रियदर्शन** 54

विविध

शहरनामा / शहरी खेती में जैव-विविधता : **राधेश्याम मंगोलपुरी** 56

प्रासंगिक / भोपाल गैस त्रासदी के चार दशक : **शैलेन्द्र चौहान** 59

शोध लेख / उपन्यास में मिथक के प्रयोग : **नूतन कुमार झा** 61

सिनेमा / स्त्री किसी की दासी नहीं : **रक्षा गीता** 63

लिये लुकाठी हाथ / ऑपरेशन अँग्रेजी : **नूपुर अशोक** 66

रंगसाज / रंग एक दरवाजा है... : **देव प्रकाश चौधरी** 67

आवरण : **शशिकान्त सिंह**

अगला अंक : स्वास्थ्य सेवा में व्यापार और नैतिकता

आवरण कथा

उम्मीदों की बाट जोहता नया साल

सेवाराम त्रिपाठी

नया साल एकदम नया नहीं होता। वह अनन्त सालों के ऊपर सवार होकर यहाँ तक आन पहुँचता है। यह क्रम जारी रहेगा और इस साल को भी हमें बहुत सीमित सन्दर्भों में नहीं देखना चाहिए। उसके आगे भी बहुत कुछ है और पीछे भी। बौनी दृष्टि हमें एकदम संकीर्ण बना देती है। फिर इस साल के ऊपर गुत्थम-गुत्था हो रहे हैं न जाने कितने सवाल और उन्हीं में लिपटे हैं न जाने कितने बवाल। जो हमारे एकदम आस-पास हैं लेकिन वही हमसे बहुत-बहुत दूर हैं।

लेखक वरिष्ठ साहित्यकार हैं।
+919425185272
sevaramtripathi@gmail.com

हम यूँ तो नये साल में आ गये हैं, असफलताओं का धूल-कचरा ओढ़े। विडम्बनाएँ और जीवन के अन्तर्विरोध कई प्रकार के जलवे निर्लज्जतापूर्वक दिखा रहे हैं। भारतीय समाज और सांस्कृतिक मूल्य एक विशेष प्रकार की 'कण्डीशनिंग' में आ चुके हैं। धीरे-धीरे पक्ष, प्रतिरोध और प्रतिपक्ष को निगलने की कोशिश कर रहा है। कार्यकर्ता, लेखक-कलाकार और जागरूक पत्रकार लगातार पराजय की परिधि में लगभग आ गये हैं। फिर भी जिजीविषा हमें संघर्षशील बना रही है और नित नयी ऊर्जा देती है। यूँ तो समाज के जुझारूपन को ठिकाने लगाये जाने के इरादे साफ दिख रहे हैं। जोड़ने की शक्तियों को कमजोर करने के उद्यम जारी हैं और नफरत की खेती का क्षेत्र निरन्तर बढ़ रहा है। स्वतन्त्रता, जनतन्त्र और नागरिकता को किसी 'पेण्डिंग' मसलों और सूरतों में तब्दील किया जा रहा है। हर चीज बाजार के मनोविज्ञान के साथ सर्वसत्तावाद के हाथों में है। उनके पास स्वायत्तता अब दिखाने भर के लिए नहीं बची। हाय-हाय और हाय तौबा के बीच विकास प्रक्रिया की इबारतें गढ़ी जा रही हैं और हर ओर उत्सवों की धूम है।

भय और निर्लज्जताएँ हमारे जीवन के स्थायी भाव हो चुके हैं। लम्पटपना, झूठ और अपराध गौरव की कोटि में विकसित हो रहे हैं। लेकिन घुप्प अँधेरे के खिलाफ आशा और विश्वास का दिया निरन्तर जल रहा है तथा जीवन के द्वन्द्वों और गतिशीलता को नये आधार और आयाम दे रहा है। प्रतिरोध और प्रतिपक्ष को चुटकुलों की परियोजनाओं में बदला जा रहा है। जो पक्षधर नहीं है वह देशतोड़क है। समय परिवर्तन तो एक प्रक्रिया है, कोई यूँ नहीं आता। आता है तो कई सवाल एक साथ लेकर आता है। कुछ भी ठहरता नहीं न समय, न समाज, न यह प्रकृति और न ही यह संस्कृति। ज्यादातर की यात्राएँ ऊर्ध्वमुखी होती हैं। अब तो कुछ की अधोमुखी भी होने लगी हैं। कालेपन की छतरियाँ तन रही हैं। वह इसलिए कि उनसे सामाजिक विकास की कड़ियाँ टूट गयी हैं और वे अपने को चमकाने के लिए विज्ञापन और झण्डे फहराने को लालायित हैं। वस्तु और विचार गतिशील भी हैं और परिवर्तनशील भी। सम्भावनाओं से भरी है यह दुनिया। हम कितनी आशाओं और विश्वासों में हैं। हम कितने प्रतिरोधों के बीच यथार्थ में भी हैं, स्वप्न और स्मृति में भी। हम घुप्प अँधेरे के बरक्स प्रकाश को जिन्दा रखना चाहते हैं। हम अपने इरादों को कमान की शक्ल देने में जुटे हैं। वे बनी-बनायी चीजों को विकास के नक्षत्र की आवश्यकता महसूस करते हैं और उसके समग्र विकल्पों को प्राप्त करने की खोज में लगे हैं। जबकि जीवन के अनेक संघर्ष हमें सम्भावनाओं के आकाश मण्डल तक ले जाने के लिए वचनबद्ध हैं।

हमारा संसार, जीवन और समय बहुत तेजी से बदल रहा है। वह मानवीय संवेदनाओं, मूल्यों, नैतिकताओं विचारधाराओं की छाती

पर सवार होकर नित नये पथ तलाश रहा है। नयी तकनीक और अपने विकास के एजेण्डे का परचम फहराते हुए किसी भी हत्या, उत्पीड़न और मनुष्यता पर हो रहे शोषण को साथ लेकर सत्ता व्यवस्था को साध रहा है और जो उसके गलत तरीकों और माध्यमों को प्रश्नांकित करता है वह उसे देशद्रोही और अवांछित भी बताता है और उसे दण्डित करना चाहता है। एक विशेष प्रकार का खतरा भी निरूपित करता है। यह हम सभी के लिए एक 'विदूषक' समय से ज्यादा शायद कुछ नहीं है। यह नयी शताब्दी मेरी नजर में एक लहूलुहान शताब्दी से ज्यादा नहीं है लेकिन आगे बढ़ने का उत्साह किसी भी सूरत में कम नहीं है। सच्चाई का कत्लेआम इस धारणा को पुष्ट करता है। हम 'कंस्ट्रक्शन' के बरअक्स एक बहुत बड़े 'डिस्कंस्ट्रक्शन' की दुनिया में आ चुके हैं। चतुर सुजानों को यही रास्ता अपने लिए अनुकूल लगा। नया समय है नयी टर्मिनोलॉजी है और नयी चुनौतियाँ भी हैं।

मुझे लगता है कि नया साल एकदम नया नहीं होता। वह अनन्त सालों के ऊपर सवार होकर यहाँ तक आन पहुँचता है। यह क्रम जारी रहेगा और इस साल को भी हमें बहुत सीमित सन्दर्भों में नहीं देखना चाहिए। उसके आगे भी बहुत कुछ है और पीछे भी। बौनी दृष्टि हमें एकदम संकीर्ण बना देती है। फिर इस साल के ऊपर गुत्थम-गुत्था हो रहे हैं न जाने कितने सवाल और उन्हीं में लिपटे हैं न जाने कितने बवाल। जो हमारे एकदम आस-पास हैं लेकिन वही हमसे बहुत-बहुत दूर हैं। जो चीजें इतिहास में हुआ करती थीं वो वर्तमान में नहीं हैं और जो वर्तमान में हैं वो भविष्य में नहीं होंगी। उनके रूपाकार बदल जाएँगे। जाहिर है कि इस दौर में मूल्यों-नैतिकताओं और विकास की बातें करना तक जानलेवा और त्रासद है। सच को समझने, सुनने की बातें तक हास्यास्पद और बौनी बनायी जा चुकी हैं। झूठ और महाझूठ ने सबको बुरी तरह दबोच लिया है। लोग सच बोलने से भागने लगे हैं। यह स्थिति केवल हमारे देश की ही नहीं है वरन् दुनिया के कई देशों में ऐसी स्थितियाँ अब दिखाई देने लगी हैं। अब खुलकर हँसी गायब है। अब हँसना इतना आसान भी नहीं है। रघुवीर सहाय का एक कविता-संग्रह आया था–'हँसो-हँसो जल्दी हँसो'। उसकी पंक्तियाँ हैं– *''हँसो पर चुटकुले से बचो/ उनमें शब्द हैं/ कहीं उनमें अर्थ न हो जो किसी ने सौ साल पहले दिये हों/ बेहतर है कि जब कोई बात करो तब हँसो/ ताकि किसी बात का कोई मतलब न रहे/ और ऐसे मौकों पर हँसो /जो कि अनिवार्य हों/''*

क्या विपर्यय है कि सम्पन्न होते हुए भी हम विपन्न हैं। कौन ले गया, ये प्यारे क्षण। हमारी आन्तरिक खुशी। अर्थहीनता का इतना बड़ा हमला मानवीयता पर है कि क्या कहें? यह सबसे भयानक संकट है। जो अहसास नहीं करता वह सुखी है और जो लगातार अनुभव कर रहा है वह भुनभुनाते हुए जीवन की आग की नदी से गुजर रहा है। आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता ने इतिहास के अन्त की घोषणा की थी। वर्तमान विश्व परिदृश्य में देखें तो लगेगा कि तब इतिहास के अन्त की उद्घोषणाएँ करने के मुहिम की केवल नारेबाजी-भर हुई थी। इतिहास सही तरीके से सलामत था। तोड़-फोड़ होनी शुरू हुई थी और उस दौर में उसकी असलियत और गुणवत्ता भी थी और पूछ-परख भी। विज्ञापन, बाजार और नयी टेक्नोलॉजी ने समूचे सन्दर्भों को बदलना शुरू किया था। समय-संस्कृति, सामाजिकता, धार्मिकता और राजनीति-भर के नहीं बल्कि आर्थिक उदारीकरण एक विशेष प्रकार की लीपा-पोती की प्रवृत्ति और लम्पटीकरण में निर्लज्जतापूर्वक विकसित हो रहा था। नैतिकताओं, मूल्यों और मानवीय विश्वासों को जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचियों में हवन कर रहा था। इतिहास को मजाक बनाने में जुटे इरादे हर जायज को नाजायज बना देना चाहते हैं। यथार्थ को फैंटेसी और फैंटेसी को यथार्थ बना देना, एक रूपक बना देना भी एक नया दृश्यमान और कला-विधान है। रिक्तियों का दायरा बढ़ रहा है और जीवन-मूल्यों को सिरे से 'खलास' किया जा रहा है।

नया साल आ गया है। शब्दों की बाजीगरी और शब्दों की वीरता के चारों ओर कारखाने खुले हैं। थोक 'प्रोडक्शन' जारी है जिसमें शुचिता और मूल्यों के सम्प्रेषण की कोई चिन्ता नहीं है और दूसरी ओर आस्थाओं, मूल्यों और नैतिकताओं का विस्थापन भी द्रुत गति से जारी है। जो नये साल का आना स्वागत के तौर पर देख रहे हैं वे एक विराट परिप्रेक्ष्य में लहूलुहान जीवन, टूटी हुई आस्थाओं की वीरानियाँ और विकृतियों, विरूपताओं के अंजर-पंजर ठीक से नहीं देख पा रहे हैं या आँखों को जबरन मूँदकर बैठे हैं। 'मूँदहूँ आँख कतहुँ नहिं कोई' सत्ता व्यवस्था के तीर तरकश में पाला बदल-बदल कर, प्रशंसाओं की कलाबाजियों और पालकियों में उत्सवों की यात्राएँ जारी हैं। बहुत रफ्तार से जन-जीवन के संघर्षों के मुद्दों और समस्याओं का कचूमर निकाला जा रहा है। यथार्थ ठहर गया है और झूठ के रक्षाकवच-कुण्डल से सभी कारकों परिस्थिति की घमासानों को साध लिया गया है। बहुत दूर-दूर तक आश्वासनों का समुद्र लहरा है और उसके तिलिस्म से खुशियों के मरकज खड़े किये जा रहे हैं। कितने तिलिस्मी रूपाकार हैं जैसे शिक्षा-माफिया, भू-माफिया, आर्थिक अपराधीकरण का माफिया। आजादी और जनतन्त्र के माफिये, मूल्यों-नैतिकताओं को समाप्त करने वाले माफिये। हर श्वेत को काले धन, काली कार्रवाइयों से ढँक दिया गया है। विकास के प्रदर्शन की उलटी गंगा बहाई जा रही है और बुलेट ट्रेनों, स्मार्ट सिटी, मेक इन इण्डिया और शाइनिंग इण्डिया का जुझारू राग दरबारी बज रहा है। जिसमें भ्रष्टाचार का जबर्दस्त कौशल छितरा रहा है। विकास के बरअक्स विध्वंस के दिन-रात कोटे फिक्स किये जा रहे हैं। प्रजातन्त्र को बराबरी के बजाये गैर-बराबरी की जीवन रेखाओं में ढंग से जमाया जा रहा है। बहुसंख्यकों को वोट साधना के साथ दलित आदिवासियों के वोट बैंक को हथियाया जा रहा है। बलात्कार एक विशेष किस्म के स्थायी प्रबन्धन में है और उसी के समानान्तर 'मातृशक्ति वन्दन अभिनन्दन' की बहार छाई हुई है। संसद में उद्घोषणाएँ जारी हैं।

यूँ तो हर जगह एक विशेष प्रकार के चौपटानन्द कार्यक्रम हो रहे हैं। लेकिन हमारी समूची शिक्षा-प्रणाली को पूरी तरह से संवेदनाविहीन और लोगों के दिमागों के कब्जा जमाने की शक्ल में ढाल दिया गया है। यहाँ भी एक बहुत बड़ा मार्केट भी है और माफिया भी। कहावत है कि किसी देश को बर्बाद करना हो तो उसकी शिक्षा-प्रणाली को ही नफरत और भेदभाव से भर दो। उसे मानवीय मूल्यों से श्रीहीन कर दो।

(शेष पृष्ठ 17 पर)

नया दौर : नयी चुनौतियाँ

अजय तिवारी

उत्तर-औद्योगिक पूँजी यानी सट्टा पूँजी यानी आवारा पूँजी सपनों का अन्त पहले ही कर चुकी थी, अब वह जो परिस्थितियाँ उत्पन्न कर रही हैं, उसमें युवाओं के सामने क्या कोई सपना बचता है? जिन अस्सी-पचासी करोड़ भारतीयों को मुफ्त अनाज पर जिन्दगी बितानी पड़ती है, जो खेत-मजदूरी से बचे तो मनरेगा मजदूरी पर निर्भर हैं, जिनके माता-पिता कर्ज लेकर व्यावसायिक शिक्षा के माध्यम से बेहतर भविष्य खरीदने की कोशिश में खप जाते हैं, उनके सामने किस तरह का भविष्य है और आगत का कैसा सपना है?

स्वाधीनता की स्वर्ण जयन्ती जैसे-जैसे नजदीक आ रही है, भारतीय समाज आन्तरिक रूपान्तरण और बाह्य करवट की प्रक्रिया से गुजर रहा है। वास्तव में, यह प्रक्रिया जिस विश्व परिदृश्य में घटित हो रही है, वह भी अप्रत्याशित उथल-पुथल की स्थिति में है। ऐसा लगता है कि आधुनिक संसार में उत्पन्न पूँजी और श्रम के द्वन्द्व से जिस भविष्य की कल्पना का जन्म हुआ था, वह समाजवादी आशा इक्कीसवीं शताब्दी में निःशेष हो चुकी है। पूँजी का महावृत्तान्त भौतिक और मानसिक रूप में प्रभुत्वशाली हो गया है। कोई देश और कोई समाज शायद ही इस महावृत्तान्त के बाहर रह पा रहा है। अमरीकी महाशक्ति के मुकाबले दूसरी विश्वशक्ति बनकर चुनौती देने वाला सोवियत संघ अतीत की वस्तु बन चुका है, अमरीकी साम्राज्यवाद को कागजी शेर कहने वाला चीन पूँजी की वैश्विक संस्थाओं–वित्त संस्थाओं का सबसे बड़ा निवेशक हो गया है और पूँजी एवं श्रम के सन्तुलन की खोज में मिश्रित अर्थव्यवस्था की राह टटोलने वाला भारत नयी आर्थिक नीतियों के माध्यम से कारपोरेट पूँजी के लिए पलक-पाँवड़े बिछा रहा है।

हमारे यहाँ लक्ष्मी को चंचला कहते हैं। नयी पूँजी को चंचल पूँजी कहा जाता है। वह संसार में अस्थिरता और समाज में असमानता बढ़ाने का काम करती है। वह असन्तोष से विकसित होती है और व्यापक असन्तोष की सृष्टि करती है। इस असन्तोष को सामाजिक संरचना के बदलाव की दिशा में जाने से रोकने के लिए पूँजी द्वारा नानाविध उपाय किये जाते हैं। यहाँ उनका विस्तृत उल्लेख करना सम्भव नहीं है लेकिन अगर देखिये तो चारों तरफ असुरक्षा की मनोभावना का प्रसार और क्षेत्रीय टकराव उसका एक उदाहरण है; बढ़ती बेरोजगारी और गिरती आमदनी से ध्यान भटकाने के लिए अतीत के गड़े मुर्दे खोदना दूसरा उदाहरण है; अतीत के वंचितों में जिन्हें नये संविधान के कारण सम्मानजनक स्थिति मिल गयी है, उन्हें भविष्य की जागरूकता में सहयोग करने के बदले अतीत की अस्मिता से बँधे रहने का दर्शन दे दिया गया है; वे उस ब्राह्मणवाद से लड़ रहे हैं जो खुद ही विभाजित रहा है–एक तरफ पुरोहित वर्ग और दूसरी तरफ बाम्हन को धन केवल 'भिच्छा' में; बेकारी जब अपने सर्वोच्च स्तर पर है, तब काम-काज के साधन उत्पन्न करने के बजाय युवाओं को मस्जिदों के नीचे मन्दिर खोज निकालने के 'भारत खोदो अभियान' में लगा दिया गया है।

हरिशंकर परसाई ने एक व्यंग्य-कथा में गोरक्षक साधु के मुखारबिंद से कहलाया था, ''बच्चा, हम आर्थिक क्रान्ति की ओर बढ़ती हुई जनता को धर्म के खूँटे से बाँध देंगे।'' यह कथन कितने विडम्बनापूर्ण ढंग से चरितार्थ हुआ है! यह संयोग की बात नहीं है कि इन तरीकों का उपयोग करने वाली सत्ता केवल

लेखक हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक हैं।
+919717170693
tiwari.ajay.du@gmail.com

भारत के बड़े पूँजीपतियों से नाभिनालबद्ध नहीं है, वह उनमें अपने कुछ चहेते यारों के लिए दुनिया-भर में निर्लज्जतापूर्वक पैरबी करने में भी हिचकिचाहट नहीं दिखाती। नतीजा यह कि स्वाधीनता के बाद चुने गये रास्ते को तिलांजलि देकर जिस नये रास्ते पर भारत चल रहा है, वह हर प्रकार के संकट से भर गया है, साथ ही उसकी अन्ततराष्ट्रीय छवि भी धूमिल हुई है। एक ओर राष्ट्रीय स्तर पर बेरोजगारी आधी शताब्दी में शिखर पर है, दूसरी ओर विश्व के मानवीय सूचकांक में भारत दयनीय स्थिति में आ गया है। सत्ताधारी इन सच्चाइयों का सामना नहीं कर सकते। वे असन्तोष के स्वरों को 'देशद्रोह' कहकर दमन का रुख अपनाते हैं। लोगों को अनुकूल बनाये रखने के लिए आस-पड़ोस के देशों से अकारण वैमनस्य बढ़ाते हैं। आज जितने बुरे सम्बन्ध अपने पड़ोसी देशों से भारत के हैं, उतने सौ साल में कभी नहीं रहे। हालाँकि अभी चुनाव द्वारा वामपन्थी सत्ता आने के बाद श्रीलंका ने भारत से बेहतर सम्बन्ध की पहल बारम्बार की है जबकि यहाँ सत्ताधारियों की 'ट्रोल आर्मी' वामपन्थी रास्ता अपनाने के नाते श्रीलंका पर कोप-वर्षा करती रही है।

'नये भारत' का यथार्थ यह है कि राष्ट्रवाद के नाम पर हिन्दू कट्टरता को राजकीय संरक्षण दिया जा रहा है, जैसे पड़ोसी पाकिस्तान में या अफगानिस्तान में इस्लामी कट्टरता को राजकीय संरक्षण मिलता रहा है। हाल ही में भारत की साम्प्रदायिक स्थिति को लेकर केन्द्रीय मन्त्री किरण रिजिजू ने संसद में वक्तव्य दिया है कि पाकिस्तान, बांग्लादेश और अफगानिस्तान से भारत लाख दर्जा बेहतर है। यह सत्ताधारियों के लिए गर्व का विषय है लेकिन मेरे लिए शर्म का विषय है। एक तो यह तुलना एक पराजय की और प्रत्यागमन की सूचना देती है। स्वाधीनता की हीरक जयन्ती की पूर्ववेला में हम अपनी तुलना अमरीका, स्वीडेन, स्विट्जरलैण्ड जैसे विकसित देशों से करने की जगह इन देशों से करने की स्थिति में पहुँच गये हैं? दूसरे, आज हम अपने इन पड़ोसियों से लाख दर्जा बेहतर हैं तो इसका श्रेय पण्डित जवाहरलाल नेहरू को है। प्रधानमन्त्री के रूप में उन्होंने भारत के लिए दो सौ साल की गुलामी से निकले देश के रूप में धर्मनिरपेक्ष लोकतन्त्र और गुटनिरपेक्षता का रास्ता चुना। लेकिन नेहरू को निन्दा का विषय बनाकर छवि चमकाने वाले इस सच्चाई को स्वीकार नहीं कर सकते। गर्व इस बात पर करना होगा कि 1947 में जिस स्थिति में हम थे, उससे विकास करके हम कहाँ पहुँचे और पाकिस्तान कहाँ पहुँचा। यही नहीं, पाकिस्तान, बांग्लादेश, अफगानिस्तान से तुलना यों ही नहीं आयी। उन देशों ने इस्लामी कट्टरपन को राजकीय नीति के रूप में अपनाया। अब हम हिन्दू कट्टरपन को उसी रूप में अपना नहीं पा रहे हैं, इसका दोष नेहरू का है क्योंकि वे ऐसा संविधान लागू कर गये हैं। लेकिन कट्टरपन के हिन्दूवादी रूप को संरक्षण देकर हम इन्हीं पड़ोसी देशों की कतार में खड़े होने जा रहे हैं।

'नये भारत' का यथार्थ यह है कि राष्ट्रवाद के नाम पर हिन्दू कट्टरता को राजकीय संरक्षण दिया जा रहा है, जैसे पड़ोसी पाकिस्तान में या अफगानिस्तान में इस्लामी कट्टरता को राजकीय संरक्षण मिलता रहा है। हाल ही में भारत की साम्प्रदायिक स्थिति को लेकर केन्द्रीय मन्त्री किरण रिजिजू ने संसद में वक्तव्य दिया है कि पाकिस्तान, बांग्लादेश और अफगानिस्तान से भारत लाख दर्जा बेहतर है। यह सत्ताधारियों के लिए गर्व का विषय है लेकिन मेरे लिए शर्म का विषय है। एक तो यह तुलना एक पराजय की और प्रत्यागमन की सूचना देती है।

एक बात का उल्लेख करना जरूरी है। किसी यूरोपीय देश में जाकर देखिये, अवैध रूप में रहने वाले सबसे ज्यादा नागरिक पाकिस्तान, बांग्लादेश, मैक्सिको आदि के मिलेंगे। अमरीका में ऐसे अवैध प्रवासियों में भारतीय बड़ी संख्या में हैं। पिछले एक दशक में धनी भारतवासियों में देश छोड़ने वालों की संख्या में अप्रत्याशित वृद्धि हुई है। पहले गरीब लोग मध्येशिया में कुछ धन कमाने जाते थे और मध्यवर्गीय लोग उन्नत देशों में बेहतर अवसर पाने की उम्मीद में। लेकिन अरबपति लोग भारत में धन कमाकर टैक्स बचाने के लिए भागते हैं। यही लोग यहाँ की 'राष्ट्रवादी' नीतियों को पालने-पोसने के लिए साधन प्रदान करते हैं। धनिकों का राष्ट्रवाद राष्ट्र के प्रति कर्तव्य नहीं जानता। अफसोस की बात यह है कि मध्यवर्ग की बेरोजगारी हो या अरबपतियों का पलायन, किसानों की आत्महत्या हो या स्त्रियों से बलात्कार, दलितों का उत्पीड़न हो या अनियन्त्रित महँगाई, किसी वास्तविक समस्या को सत्ता की 'राष्ट्रवादी' राजनीति छूती तक नहीं।

उत्तर-औद्योगिक पूँजी यानी सट्टा पूँजी यानी आवारा पूँजी सपनों का अन्त पहले ही कर चुकी थी, अब वह जो परिस्थितियाँ उत्पन्न कर रही है, उसमें युवाओं के सामने क्या कोई सपना बचता है? जिन अस्सी-पचासी करोड़ भारतीयों को मुफ्त अनाज पर जिन्दगी बितानी पड़ती है, जो खेत-मजदूरी से बचे तो मनरेगा मजदूरी पर निर्भर हैं, जिनके माता-पिता कर्ज लेकर व्यावसायिक शिक्षा के माध्यम से बेहतर भविष्य खरीदने की कोशिश में खप जाते हैं, उनके सामने किस तरह का भविष्य है और आगत का कैसा सपना है? सपना देखने और सपना जगाने का काम साहित्य और कला का है। व्यावसायिक शक्तियों ने इस क्षेत्र में अभूतपूर्व पहल की है। अब साहित्य-सम्मलेन और साहित्यिक गोष्ठियाँ नहीं होतीं। साहित्योत्सव होते हैं। उनके व्यावसायिक चरित्र से साहित्य की प्रकृति का मौलिक अन्तर्विरोध है। रूपंकर कलाएँ विचारधारा से अल्पतम सम्बन्ध रखती हैं लेकिन सचल माध्यम (फिल्म, टेलीविजन सीरियल) या तो कालेधन पर आश्रित हो गये हैं या उन पर माफिया और सत्ता का दबदबा है। सारांश यह कि न्यायापूर्ण भविष्य का जो सपना औद्योगिक पूँजीवाद के युग तक सामाजिक जीवन से प्राप्त होता था, वह कारपोरेट पूँजी के युग में कठिन होता जा रहा है। एकमात्र आशा जिन संघर्षों से की जा सकती है, उनके लिए परिस्थितियाँ बहुत प्रतिकूल हैं। लेकिन समाज के भीतर अन्तर्विरोध हैं, असन्तुलन ही नहीं, असन्तोष भी है, इसलिए आज नहीं तो कल स्थितियाँ करवट लेंगी और सत्ता-पूँजी-माफिया-धर्मगुरुओं का गठबन्धन पृष्ठभूमि में जाएगा। मुझे शिवमंगल सिंह सुमन की इस पंक्ति में बहुत विश्वास है–'मैं मनुष्य के भविष्य से नहीं निराश'!

■

आवरण कथा

मानवीय सभ्यता का करुण पक्ष

ज्योतिष जोशी

आज समूचा विश्व अनेक स्तरों पर मनुष्य के अकेलेपन और अलगाव की समस्या से त्रस्त है। भारत के लिए यह सर्वथा नयी समस्या है, क्योंकि हमारा समाज अपनी पारम्परिक मान्यताओं, मूल्यों और पारिवारिक व्यवस्था के सुदृढ़ आधार के कारण इस त्रासद स्थिति से बचा हुआ था। यहाँ इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि इंग्लैण्ड में 1760 से 1840 के बीच औद्योगिक क्रान्ति हुई थी जो बाद में पूरे यूरोप सहित संयुक्त राज्य अमेरिका में भी फैली।

औद्योगिक क्रान्ति ने पूरी दुनिया को अनेक स्तरों पर प्रभावित किया था। इसके कारण बड़े पैमाने पर शहरीकरण हुआ। कारखानों और मिलों की स्थापना के बाद उसमें काम करने के लिए बड़े पैमाने पर विस्थापन के परिणामस्वरूप गाँव-के-गाँव उजड़ते चले गये। तब समाज में दो वर्गों की ही प्रधानता रह गयी। एक वर्ग बना पूँजीपति तो दूसरा मजदूर। औद्योगिक क्रान्ति ने वस्तुओं की अधिक उपलब्धता सुलभ की तो एक नया उपभोक्ता समाज भी अस्तित्व में आया। इसी के नतीजे में मध्यवर्ग भी उभरा, जो न तो पूँजीपति था, न मजदूर। लेकिन वह अधिकाधिक छद्म में जीने का स्वाँग करता हुआ एक नये चरित्र के रूप में उदित हुआ। इसके समानान्तर नये उदित हुए मजदूर-वर्ग की समस्याएँ उभरने लगीं। कारखानों और मिलों में स्थिति खराब होने लगी तो श्रमिक आन्दोलन भी अस्तित्व में आये। तब पूँजीपतियों के नये टोटकों और प्रलोभनों का शिकार बालक और किशोर होते गये जिनके श्रम से औद्योगिक उत्पादन भी सम्भव हुआ। यहाँ से बालश्रम की कुप्रथा भी अस्तित्व में आयी। उद्योगों के अन्धाधुन्ध विकास ने कृषि-क्षेत्र पर बुरा असर डाला जिसके कारण एक तरफ तो फसलों की पैदावार में कमी आती गयी, तो दूसरी तरफ कृषि दोयम दर्जा पाकर उपेक्षित और वंचित कर्म में गिनी जाने लगी। इससे व्यापक रूप से सदियों से चली आ रही व्यवस्था छिन्न-भिन्न हुई और मानव इतिहास का वह नाजुक समय शुरू हुआ जिसमें व्यक्ति और समाज का परम्परागत और स्वाभाविक ताना-बाना टूट गया।

यही वह समय है जब कार्ल मार्क्स का उदय हुआ और उन्होंने इन जटिल स्थितियों का अध्ययन कर अपना दर्शन प्रस्तुत किया। उनके सिद्धान्तों में एक महत्त्वपूर्ण और प्रासंगिक सिद्धान्त 'अलगाव का सिद्धान्त' है जो पूँजीवादी समाज में श्रमिकों के अनुभव और अलगाव को समझने की कोशिश करता है। इसमें मार्क्स यह बताते हैं कि पूँजीवादी उत्पादन-पद्धति के कारण श्रमिक अपने काम, उत्पाद वस्तु, मित्र और अपनी मानवीय क्षमता से अलगाव महसूस करने लगता है जो धीरे-धीरे उसे स्वयं आत्म-परायेपन में बदल देता है जो भयावह रूप से त्रासद होता जाता है। वे इस अलगाव के कारण के रूप में विषय, वस्तु तथा दोनों के बीच के सम्बन्ध को देखते हैं। अगर इसका विश्लेषण करें तो समझ में आएगा कि जब मनुष्य अपनी स्वाभाविक क्षमताओं के विपरीत आवश्यकताओं की पूर्ति की विवशता में धनार्जन के लिए समझौता करता है तो न केवल समाज, बल्कि अपने परिवार, सम्बन्ध और मित्र के साथ स्वयं से भी विरत होता चला जाता है। उसकी क्षमताएँ निरन्तर घटती जाती हैं और व्यक्तित्व का इस तरह क्षरण होता जाता है कि उसकी स्वाभाविक क्षमताओं के साथ उसका अस्तित्व भी केवल दिखावे के लिए रह जाता है। यह स्थिति मानवीय सभ्यता के लिए बहुत भयावह होती है, जो निरन्तर होती गयी है और आज इस मुकाम पर ले आयी है जहाँ व्यक्ति आत्म-परायेपन का शिकार होकर

लेखक प्रसिद्ध आलोचक एवं कलाविद् हैं।

+919818603319

jyotishjoshi@gmail.com

किंकर्तव्यविमूढ़ की तरह खड़ा है।

यह स्थिति जिस सभ्यता का प्रतिनिधित्व करती है, वह उपभोक्तावादी सभ्यता है जिसमें कोई नीति नहीं, कोई धर्म नहीं, है तो बस हर तरह से उपभोग करने की सनक; जिसकी भर्त्सना महात्मा गाँधी ने 'शैतानी सभ्यता' कहकर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्द स्वराज' में की थी। उन्होंने लिखा था–...''मैं आपसे बीस वर्ष के अनुभव के बाद कहता हूँ कि नीति के नाम से अनीति सिखाई जाती है। ....शरीर का सुख कैसे मिले, यही आज की सभ्यता ढूँढ़ती है और यही देने की कोशिश करती है। परन्तु वह सुख भी नहीं मिल पाता। यह सभ्यता तो अधर्म है और यूरोप में इतने दरजे तक फैल गयी है कि वहाँ के लोग आधे पागल जैसे देखने में आते हैं। ...यह सभ्यता ऐसी है कि अगर हम धीरज धरकर बैठे रहेंगे, तो सभ्यता की चपेट में आये हुए लोग खुद की जलायी हुई आग में जल मरेंगे।'' गाँधी जी ने जो देखा और लम्बे यूरोपीय प्रवास में महसूस किया, उसी के परिणामस्वरूप यह संकल्प भी लिया था कि ऐसी स्थिति वे भारत में न आने देंगे, क्योंकि अगर यह सभ्यता भारत में फैली तो उसका समूल नाश कर देगी। 'हिन्द स्वराज' भारत के स्वत्व की खोज की दिशा में गाँधी जी का वह घोषणा-पत्र ही है जिसमें स्वाधीनता-प्राप्ति के साथ-साथ भविष्य के उस भारत की तस्वीर खींची गयी है जो उनके स्वराज और सर्वोदय के भारत का है।

अगर हम थोड़ा पीछे लौटें तो पाएँगे कि इंग्लैण्ड के उपनिवेश के रूप में रहे भारत में इस उपभोक्तावादी वर्ग का जन्म पहले-पहल बंगाल में हुआ। तब देश की राजधानी कलकत्ता हुआ करता था। इस वर्ग ने यकायक अपना स्वाभाविक व्यवहार, चरित्र और जीवन-शैली को छोड़कर पश्चिमी चाल-चलन अपना लिया था। इससे वहाँ का सामाजिक ताना-बाना प्रभावित होने लगा था। इसी को लक्ष्य करके 1860 में माइकल मधुसूदन दत्त जैसे महत्त्वपूर्ण बांग्ला कवि-लेखक ने एक नाटक लिखा था–'एकेई बोले कि सभ्यता?' यानी 'क्या इसी को सभ्यता कहते हैं?' इसके प्रभाव में बांग्ला में अनेक रचनाएँ आयीं जिसमें सामाजिक परिवर्तन के इस विकार को समझने की कोशिशें हुईं।

महात्मा गाँधी ने भारत आने से पूर्व यूरोपीय सभ्यता की पतनशील स्थितियों को देखा-परखा था और उसकी आलोचना कर वे मानवता को त्रासद स्थितियों से उबारने का यत्न कर रहे थे। पर जब वे भारत आये तो यहाँ की दशा ने उनकी आँखें खोल दी थीं। यहाँ के पढ़े-लिखे लोगों में अँग्रेजी ढंग से जीने और अपने ही लोगों से क्रूर व्यवहार करने की प्रवृत्ति देखी थी। अतएव उनका स्वाधीनता आन्दोलन केवल भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए न होकर उस नैतिक, स्वराजी और सर्वोदयी भारत के लिए था जिसमें अनीति, अपकर्म और देहसुख के लिए जगह न थी। इसके लिए उन्होंने लड़ाई भी लड़ी तो अपने एकादश व्रतों को सामने रखकर उस सत्य को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की जो सर्वोपरि है और उसका सबसे महत अस्त्र थी अहिंसा, जो व्यापक रूप से प्रेम का प्रतिरूप थी।

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद बड़ी संख्या में कल-कारखानों के खुलने और नगरीकरण के साथ गाँवों से हुए अन्धाधुन्ध विस्थापन ने अट्ठारहवीं सदी में आये यूरोपीय औद्योगिक क्रान्ति के दुष्परिणामों की याद दिला दी। लेकिन कृषि पर देश की बड़ी आबादी की निर्भरता ने उसके भयावह विकारों को प्रसारित होने से रोक दिया था। पर समय बदलने के साथ कृषि पर निर्भरता कम होती गयी, अँग्रेजी शिक्षा ने जोर पकड़ा और सुविधाओं को जोड़ने और जीने की लालसा ने उन बुराइयों को जड़ जमाने की जगह बनायी जिसका प्रतिकार करते गाँधी जी जा चुके थे। आप याद करें तो सत्तर के दशक में परिवारों के टूटने की शुरुआत होती दिखती है, जिसका संज्ञान सबसे पहले नरेश मेहता अपने उपन्यास 'यह पथ बन्धु था' में लेते दिखते हैं। इसके बाद साहित्य में कविता, कहानी और उपन्यास जैसी विधाओं में संयुक्त परिवारों के टूटने और व्यक्तिवादी मनोदशाओं से उपजी विकृतियों पर चर्चा शुरू होती है। इस तरह भारतीय स्वतन्त्रता जहाँ एक तरफ देश के विकास की एक नयी बयार में ले जाती है, वहीं समाज को कथित सभ्यता की उस पश्चिम-परस्त ढंग से जीने की ओर अग्रसर करती जाती है जिसमें परिवार अपना पुराना चोला छोड़ते चले जाते हैं।

इसमें भयावह परिवर्तन बीसवीं सदी के नवें दशक में परिलक्षित होता है जब भूमण्डलीकरण के नाम पर पूरे विश्व को व्यापारिक संसार में बदल देने की पूँजीवादी नीति अमल में आती है। यही समय है जब भारत में उदारीकरण और खुली अर्थव्यवस्था की घोषणा होती है। इसके समानान्तर सूचना क्रान्ति के फलस्वरूप फैले सूचना संजाल ने रही-सही कसर पूरी कर दी। ऐसे में भारत की वही दशा हो गयी जो दो सदी पूर्व यूरोप और अमेरिका की थी। बाजार की दखलन्दाजी और क्रयशक्ति की हैसियत से सम्बन्ध तय होने लगे। एकल सुख की आकांक्षा ने संयुक्त परिवारों को तोड़ा, तो लाभ-हानि के गणित से सम्बन्ध के मूल्य तय होने लगे। इतना ही नहीं, व्यावसायिक सफलता तथा निजी अहं का आयतन इतना बढ़ता चला गया कि एकल परिवार में भी पति-पत्नी का एक साथ निर्वाह कठिन होता चला गया। प्रतिवर्ष लाखों की संख्या में तलाक की अर्जियाँ इसकी गवाही देती हैं कि अब समाज, परिवार जैसी संस्थाएँ तो अर्थहीन हो ही चली हैं, विवाह नामक संस्था भी कब तक टिकेगी, कहा नहीं जा सकता।

निसन्देह यह पूँजीवाद की अन्धाधुन्धी की परिणति है जिसमें व्यक्ति, परिवार और समाज से तो अलग हो ही रहा है, स्वयं अपने से भी पराया हो रहा है जिसके नतीजे में प्रति वर्ष बड़ी संख्या में होने वाली आत्महत्याएँ हैं।

यह बहुत बड़ी चिन्ता का विषय है कि व्यक्ति अपने व्यावसायिक लाभ और आत्म-सुख के कारण माँ-पिता और भाई-बहन सरीखे सम्बन्धों की चिन्ता नहीं कर रहा। देश में प्रतिवर्ष लाखों बुजुर्गों का अनाथाश्रम में जाना किसी सभ्य देश का उदाहरण नहीं हो सकता। दुःखद यह है कि पति-पत्नी भी एक-दूसरे की परवाह से बेखबर हैं और अपने अहं को सन्तुष्ट करने में ही लगे हैं जिसका दुष्परिणाम उनकी भावी सन्ततियों पर पड़ रहा है। स्पष्ट है कि कार्ल मार्क्स का अलगाव सम्बन्धी सिद्धान्त जिस पूँजीवादी विकृति को ध्यान में रखकर सामने आया था और महात्मा गाँधी ने जिसे 'शैतानी सभ्यता' कहकर पश्चिम की उपभोक्तावादी सभ्यता की भर्त्सना करके मानवीय मूल्यों को तरजीह देकर जीने को प्रस्तावित किया था, उस पर अमल करने की जरूरत आ पड़ी है, यदि हम एक जीवित समाज और एक स्पन्दित परिवार के साथ रहना चाहते हैं। पूँजीवाद की भयावहता ने मार्क्स जैसे विचारक को जन्म

(शेष पृष्ठ 14 पर)

पूँजीवाद की उच्चतर अवस्था है क्रॉनी कैपिटलिज्म

अनिल राय

क्रॉनी कैपिटलिज्म सत्ता की व्यापारवादी नीति नहीं है, जिसमें व्यापार की परिस्थितियों को सुगम और सुविधापूर्ण बनाने के यत्न किये जाते हैं। स्पष्ट रूप से यह कुछ चुनिन्दा पूँजीपतियों के साथ सत्ता का गठबन्धन है। इस तरह अपने चरित्र में यह आर्थिक नाजीवाद है। जिस तरह नाजीवाद में नस्लवाद पर जोर था और एक विशेष नस्ल की श्रेष्ठता ही स्वीकार्य थी, उस तरह क्रॉनी कैपिटलिज्म में कुछ चुनिन्दा पूँजीपतियों को ही सत्ता का 'स्नेह' प्राप्त होता है और उन्हीं की श्रेष्ठता स्थापित की जाती है।

बात की शुरुआत इस वर्ष की चर्चित खबर से करते हैं। हुरुन इण्डिया रिच लिस्ट 2024 के मुताबिक गौतम अडानी की सम्पत्ति पिछले साल की अपेक्षा 95% से बढ़कर 11.62 लाख करोड़ हो गयी है। इसके बाद ये बर्नाल्ड अर्नाल्ट को पीछे छोड़कर दुनिया तीसरे सबसे अमीर बन गये। अब इनकी सम्पत्ति एलन मस्क और जेफ बेजोज के करीब पहुँच गयी है।

भारत में क्रॉनी कैपिटलिज्म पर विचार करते हुए जूलियन ब्यसाउ ने अपने आलेख 'इन इण्डिया 'क्रोनी कैपिटलिज्म' इज ऑन द राइज' में कहा है कि अडानी ने कोई क्रान्तिकारी तकनीक या व्यवसाय मॉडल का आविष्कार नहीं किया। भारत के बाहर लगभग नहीं पहचाने जाने वाले गौतम अडानी की शानदार सफलता का श्रेय नवाचार को नहीं दिया जा सकता है। उनके व्यावसायिक समूह की गतिविधि के प्रत्येक क्षेत्र में–हवाई अड्डे, बन्दरगाह, खनन, एयरोस्पेस, रक्षा उद्योग सभी में भारत की सरकार महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती नजर आती है, चाहे लाइसेंस आवण्टित करने में हो या अनुबन्ध पर हस्ताक्षर करने में। उन्हें भारतीय प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी के करीबी दोस्त के रूप में माना जाता है। प्रमाण तो इस बात तक के हैं कि कई अन्य देशों में उनका व्यवसाय पसारने के लिए खुद प्रधानमन्त्री ने कई देशों के शासनाध्यक्षों से उनके लिए पैरवी की।

द इकोनॉमिस्ट द्वारा जारी रिपोर्ट के अनुसार वर्ष 2016 में शीर्ष क्रॉनी कैपिटलिस्ट देशों में भारत जहाँ 9वें स्थान पर था, वहाँ 2021 में यह ऊपर सरककर 7वें स्थान पर पहुँच गया है। इस रैंकिंग में अमेरिका 19वें स्थान पर है। 22 देशों की सूची में 19वें स्थान पर होना बहुत बुरा नहीं था। लेकिन वहाँ इसी वर्ष सम्पन्न हुए चुनाव पर गौर करें तो वहाँ भी बहुत तेजी से हालात बदल रहे हैं। राष्ट्रपति के चुनाव में खुद ट्रम्प से भी ज्यादा धन और प्रचार का इस्तेमाल एलन मस्क कर रहे थे। राजनीति के दंगल में एक व्यवसायी इतना खुलकर क्यों खेल रहा था? इसलिए कि डॉनल्ड ट्रम्प ने उन्हें आश्वासन दिया था कि यदि वे राष्ट्रपति बनते हैं तो एलन मस्क को अपना प्रमुख सलाहकार बनाएँगे। एलन मस्क सलाहकार बनकर क्या सलाह देंगे? कोई सामान्य बुद्धि का आदमी भी इस बात को मानने से इनकार कर देगा कि कड़ाके की सर्द रात में खुले पार्क में अखबार ओढ़कर सोकर जीवन ढोने वाले लोगों के लिए वे समुचित आवास की व्यवस्था करने की मानवीय सलाह को प्राथमिकता देंगे या मुफ्त सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं के विस्तार की सलाह देंगे या उच्चतर शिक्षा में फीस कटौती करके निर्धन मेधावियों की भी उच्च शिक्षा तक पहुँच बढ़ाने की सलाह देंगे। यह सलाह देने के लिए तो उन्होंने अपना धन पानी की तरह बहाकर प्रचार में ट्रम्प से भी ज्यादा

लेखक सामाजिक कार्यकर्त्ता और 'आसा' के संयोजक हैं।

+919934036404

dranilkumarroy@gmail.com

मुस्तैदी नहीं दिखाई है। निश्चय ही दुनिया के सबसे बड़े उद्यमी ने देश के सत्ता-शीर्ष के साथ गठजोड़ अपने निजी और व्यावसायिक हितों की पूर्ति के लिए किया है और, जैसा कि अनुमान किया जा सकता है, चुनाव में किये गये अपने निवेश को वे हजारों गुना अधिक बनकर लौटते हुए देखना चाहेंगे।

यही है क्रॉनी कैपिटलिज्म–सत्ता और चुनिन्दा पूँजीपतियों का अनैतिक गठबन्धन, जिसमें सरकार कुछ पूँजीपतियों के पक्ष में खड़ी रहकर अनुदान, टैक्स में छूट, परमिट आवण्टन, टेण्डर में पक्षपात और कभी ऋण माफी के द्वारा समर्थन प्रदान करती है और उसके बदले में पूँजीपति चुनाव तथा अन्य प्रयोजनों में खर्च के लिए धन मुहैया कराते हैं। यह व्यवस्था उस दोमंजिले भवन के सदृश है, जिसके निचले तल्ले पर राजनीति का ठेका लगता है और ऊपरी तल्ले पर व्यापारियों के ठुमके। नीचे की जरूरतों के लिए 'स्नेह' ऊपर से मिलता है और ऊपर के ठुमके के लिए 'मृदंग' नीचे से भेज दिया जाता है।

क्रॉनी कैपिटलिज्म सत्ता की व्यापारवादी नीति नहीं है, जिसमें व्यापार की परिस्थितियों को सुगम और सुविधापूर्ण बनाने के यत्न किये जाते हैं। स्पष्ट रूप से यह कुछ चुनिन्दा पूँजीपतियों के साथ सत्ता का गठबन्धन है। इस तरह अपने चरित्र में यह आर्थिक नाजीवाद है। जिस तरह नाजीवाद में नस्लवाद पर जोर था और एक विशेष नस्ल की श्रेष्ठता ही स्वीकार्य थी, उस तरह क्रॉनी कैपिटलिज्म में कुछ चुनिन्दा पूँजीपतियों को ही सत्ता का 'स्नेह' प्राप्त होता है और उन्हीं की श्रेष्ठता स्थापित की जाती है।

कारण

क्रॉनी कैपिटलिज्म क्यों विकसित होता है और यह बदसूरत सम्बन्ध दिन-ब-दिन प्रगाढ़ क्यों होता चला जाता है, जैसा कि द इकोनॉमिस्ट की रिपोर्ट से पता चलता है कि भारत 9वें स्थान से ऊपर चढ़कर 7वें स्थान पर चला गया है? उत्तर रिजर्व बैंक के पूर्व गवर्नर रघुराम राजन के शब्दों में–

''कुटिल राजनीतिज्ञ को गरीबों को संरक्षण देने और चुनाव लड़ने के लिए व्यवसायी की जरूरत होती है। भ्रष्ट व्यवसायी को सार्वजनिक संसाधन और अनुबन्ध सस्ते में प्राप्त करने के लिए कुटिल राजनीतिज्ञ की जरूरत होती है। और राजनीतिज्ञ को गरीबों और वांछितों के वोटों की जरूरत होती है। प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र निर्भरता के चक्र में बँधा हुआ है, जो सुनिश्चित करता है कि यथास्थिति बनी रहे।'' (एमवी राजीव गौड़ा और नन्दन शारालय द्वारा लिखित 'क्रोनी कैपिटलिज्म एण्ड इण्डियाज पॉलिटिकल सिस्टम' से उद्भूत।)

2014 के चुनाव में ही काँग्रेस के पूर्व वित्तमन्त्री पी. चिदम्बरम ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा था–''भारत के लोक सभा चुनाव में कभी धन, संगठन और तकनीक का ऐसा शातिर मेल इससे पहले नहीं देखा गया।''

पी. चिदम्बरम जब आश्चर्य व्यक्त कर रहे थे तो राजनीतिक दलों के द्वारा चुनावों में व्यय किये जाने वाले धन का काँटा 50,000 करोड़ से नीचे था। अगले ही चुनाव में यह 60,000 करोड़ पहुँच गया और 2024 के चुनाव में तो यह अपने पिछले सारे कीर्तिमान को ध्वस्त करते हुए 1.35 लाख करोड़ तक पहुँच गया। अर्थात् ''अगले चुनाव तक पहुँचते-पहुँचते यह राशि दोगुनी से अधिक हो गयी।'' (स्रोतः सेण्टर फॉर मीडिया स्टडीज) पानी की तरह बहने वाला यह अपरिमित धन राजनीतिक दल न तो वेतन से कमाये होते हैं, न दुकानदारी करके और न ही खेत बेचकर खर्च कर रहे होते हैं। यह राशि उन्हें पूँजीपतियों से प्राप्त होती है, जिसके बदले उन्हें उन पूँजीपतियों को लाभ पहुँचाने की विवशता होती है। लाभ पाकर पूँजीपति और अधिक धन कमाते हैं और राजनीतिक दलों को और अधिक चन्दा देते हैं। यह दुश्चक्र चलता चला जाता है। इसी दुश्चक्र के परिणामस्वरूप अडानी की सम्पत्ति एक साल में 95% बढ़ती है और चुनावी खर्च दोगुना होता है।

परिणाम

पूँजीपतियों और सत्ताधारियों का गठबन्धन राष्ट्र और समाज के हित में भी काम कर सकता था। परन्तु नहीं। इस अपवित्र गठबन्धन का उद्देश्य केवल पैसा कमाना होता है–दोनों ओर। जहाँ ऐसा निषिद्ध गठबन्धन स्थापित हो जाता है, वहाँ व्यवसायियों के आगे बढ़ने का आधार इनकी उत्पादकता और उद्यम की दक्षता नहीं होती, वरन् सत्ताधारी के द्वारा प्रदान किया गया अनुचित लाभ, अनेक बार अनैतिक और कई बार गैर-कानूनी भी, होता है। सत्ता के द्वारा प्रदान किये गये इस अनुचित, अनैतिक और गैर-कानूनी लाभ का परिणाम स्पर्धात्मक व्यावसायिक वातावरण की हानि, आर्थिक और सामाजिक हानि तथा राष्ट्र के पिछड़ेपन के रूप में प्राप्त होता है। कुछ चुनिन्दा पूँजीपतियों को ही सत्तायी समर्थन और प्रोत्साहन प्राप्त होने के कारण उससे वंचित पूँजीपतियों में निराशा व्याप्त होती है, वे अन्य कुटिल उपायों को अपनाने की ओर अग्रसर होते हैं और इस तरह स्वस्थ एवं प्रतिस्पर्धात्मक व्यावसायिक वातावरण को क्षति पहुँचती है। कम ब्याज-दर में मिलने वाला ऋण, सन्दिग्ध कर्ज, कर्ज माफी और टैक्स में छूट आदि–ये आर्थिक लागत हैं, जो कुछ चुनिन्दा पूँजीपतियों की निजी हितपूर्ति में इस्तेमाल होता है। यह हितपूर्ति आमजन के टैक्स के पैसे से होती है। सार्वजनिक वित्तीय संसाधनों का निजी हित में इकतरफा इस्तेमाल सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा, गरीबी उन्मूलन, भुखमरी निवारण, आवासहीनता आदि मानव-विकास के क्षेत्रों में निवेश में कमी लाता है। मानव-विकास में निवेश की कमी के कारण देश एक पिछड़े देश के रूप में अपनी पहचान बनाये ठिठुरते हुए खड़ा रह जाता है। इस पिछड़ेपन का स्वाभाविक दुष्परिणाम उच्च असमानता के रूप में सामने आता है। इस उच्च असामनता को छिपाने के लिए सरकार के द्वारा प्रति व्यक्ति आय का झाँसा उत्पन्न किया जाता है, जिसमें सैकड़ों-हजारों करोड़ प्रति घण्टे कमाने वाले अडानियों-अम्बानियों की आय में प्रति माह पाँच हजार या उससे भी कम कमाने वाले करोड़ों झम्मन माँझियों की आय को मिलाकर औसत प्रस्तुत करके प्रति व्यक्ति आय 2.28 लाख रुपये बताया जाता है। इस तरह सत्ताधारियों-पूँजीपतियों के निजी लाभ, उससे उत्पन्न व्यावसायिक वातावरण, आर्थिक, सामाजिक और राष्ट्रीय हानि और उस हानि को झाँसा की चादर से ढँकने का क्रम चलता रहता है।

समस्या की जड़ की पड़ताल

सत्य सदैव वही नहीं होता है, जो प्रत्यक्ष

होता है। वह अक्सर प्रच्छन्न होता है, पर्दे के भीतर। रघुराम राजन ने 'कुटिल राजनीति' और 'भ्रष्ट व्यवसायी' के अनैतिक गठबन्धन का जो उद्घाटन किया है, वह प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाला सत्य है, पर्दे के पीछे का नहीं। वास्तव में इस भ्रष्ट गठबन्धन का प्रतिफलन पूँजीवाद की जड़ में सन्निहित है।

लोकतन्त्र और पूँजीवाद, राजतन्त्र और सामन्तवाद के विध्वंस के गर्भ से उपजी हुई जुड़वा सन्तानें हैं। व्यक्तिगत और असंगठित उत्पादन प्रणाली जब मैन्युफैक्चरिंग प्रथा से होते हुए फैक्ट्रियों और कारखानों के रूप में सामूहिक और संगठित उत्पादन प्रणाली के रूप में विकसित होती है तो उस प्रणाली के संचालन के लिए सामूहिक शासन-प्रणाली, जिसे लोकतन्त्र कहते हैं, का उदय होता है। राजतन्त्र की व्यक्तिगत शासन-प्रणाली पूँजीवाद की सामूहिक उत्पादन प्रणाली की व्यवस्था के भार-संवहन में असमर्थ होती है। इसीलिए दुनिया में जहाँ-जहाँ और जैसे-जैसे पूँजीवाद का विकास हुआ, वहाँ-वहाँ और वैसे-वैसे लोकतन्त्र की राजनीतिक व्यवस्था आती गयी। इस तरह लोकतन्त्र की राजनीतिक व्यवस्था पूँजीवाद की आर्थिक व्यवस्था के मैनेजर की तरह काम करती है। इसलिए लोकतन्त्र की राजनीतिक व्यवस्था पूँजीवाद के संवर्धन और पोषण का काम उसी तरह करेगी, जैसे राजतन्त्र की राजनीतिक व्यवस्था जागीरदारों और सूबेदारों के हितों का संरक्षण करती थी। यह लोकतन्त्र का अन्तर्निहित, अघोषित, मगर वास्तविक दायित्व है। क्रॉनी कैपिटलिज्म के रूप में राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा की भ्रष्टता इसे कुछ बड़े और मजबूत जबड़ों में अपने को चबा जाने के लिए समर्पित करने को विवश होती है।

दुनिया के अधिकांश देशों में लोकतन्त्र का जन्म क्रान्ति, आन्दोलन या जन-संघर्ष की प्रसव-पीड़ा झेलकर हुआ है। इन संघर्षों के जन दबाव के कारण लोकतन्त्र के प्रारम्भिक चरणों में पूँजीवाद भी सहमा-सहमा-सा था, बाल्यावस्था में होने के कारण पूरी तरह समर्थ भी नहीं था और शासन-प्रणाली के सम्मुख संघर्षों से उत्पन्न जनाकांक्षाओं का सम्मान करने की विवशता भी थी। धीरे-धीरे जन दबाव भी घटता गया और पूँजीवाद भी सयाना होता चला गया। अब यह परिपक्व पूँजीवाद अपने मैनेजर को अपने काम पर मुस्तैदी के साथ लगाने लगा। इसलिए अपने प्रारम्भिक चरण में जो लोकतन्त्र लोकतन्त्रात्मक दिख रहा था, जनोन्मुखता का आवरण धारण किये था, अब आवरणविहीन होकर जनता को नियन्त्रित और नव उदारवादी नीति की आड़ लेकर समर्थ पूँजीपतियों के हित-पालन में, अपने होने के वास्तविक उद्देश्य के पालन में, नित्य से लग गया है।

तो क्या यह इसी तरह चलता रहेगा?

नहीं। ऐसा मानना विकास की अवधारणा को ही नकारना होगा। सदैव ऐसा ही नहीं रहेगा। इसके दो कारण हैं। पहला यह कि क्रॉनी कैपिटलिज्म पूँजीवाद के व्यापक चरित्र के विरुद्ध है। यह भटका हुआ व्यवहार है। जिस लोकतान्त्रिक राजसत्ता का उदय समग्र पूँजीवाद के समर्थन के लिए हुआ था, क्रॉनी कैपिटलिज्म के रूप में अब वह कुछ हाथों का खिलौना बनकर रह जाती है। इससे इस दायरे से बाहर पूँजीपतियों में असन्तोष उत्पन्न होता है, वे हतोत्साहित होते हैं और सत्ता-समर्थित पूँजीपतियों से प्रतिस्पर्धा में पिछड़ जाते हैं। इससे पूँजीवाद के व्यापक परिवेश पर नकारात्मक असर होता है और वह कमजोर होता है। इस तरह क्रॉनी कैपिटलिज्म की अवस्था केकड़े की तरह मातृहन्ता के रूप में अपनी जन्मदात्री परिस्थिति का ही संहार करने लग जाता है।

दूसरी ओर राजनीतिक दलों की आपसी प्रतिस्पर्धा जन-प्रशिक्षण का कार्य करती है। इसलिए सत्ता के प्रतिस्पर्धी राजनीतिक दल जन-झुकाव को अपने पक्ष में करने के लिए इस मुद्दे को उठाएँगे, उठाने भी लगे हैं। संसद और बाहर विपक्षी राजनीतिक दलों के द्वारा 'मोदी-अडानी भाई-भाई' आदि के नारे लगने भी लगे हैं। राजनीतिक प्रतिस्पर्धा से उपजा यह सन्देश जनता तक सम्प्रेषित होता है। इसी के परिणामस्वरूप किसान आन्दोलन के भागीदारों के द्वारा जिओ के मोबाइल टावरों को ढाह दिया जाता है और जिओ सिम का बहिष्कार करने का आह्वान किया जाता है।

यह इस क्रॉनी कैपिटलिज्म के विरुद्ध विद्रोह की प्रारम्भिक अवस्था है। विरोध के इस प्रारम्भिक चरण में इस व्यवस्था को बनाये रखने के लिए पूँजीवादी थिंक टैंक कुछ सुधारात्मक उपाय लेकर सामने आते हैं। जैसा कि अजीम प्रेम जी विश्वविद्यालय के चिरंजीव सेन के द्वारा क्रॉनी कैपिटलिज्म को नियन्त्रित करने के उपाय सुझाये गये हैं–

1. राजनीतिक वित्त-पोषण प्रणाली में सुधार किया जाना चाहिए।
2. नीति बनाने की प्रक्रियाओं में सुधार किया जाना चाहिए।
3. ऑडिट संस्थानों को मजबूत बनाया जाना चाहिए।
4. कारोबारी माहौल में सुधार लाया आना चाहिए आदि-आदि।

जन दबाव में राजनीतिक सत्ता ऐसे ही कुछ उपायों को अपनाकर अपना चेहरा बचाने और असन्तोष को दबाने की कोशिश करेगी। परन्तु यह दस कदम आगे बढ़कर दो कदम पीछे हटने जैसा होगा। इन उपायों के सहारे जन असन्तोष के उभार को थोड़ी देर के लिए कम तो किया जा सकेगा। लेकिन जन असन्तोष के थोड़ा कम होते ही राजनीतिक सत्ता फिर से अपने वास्तविक काम (जो करों में भारी बढ़ोत्तरी और कल्याणकारी मदों में कटौती करके पूँजीपतियों को लाभ पहुँचाना है) में लग जाएगी। यह थोड़ी देर के लिए दो कदम पीछे हटकर फिर से दस कदम आगे बढ़ जाने जैसा होगा। इसके बाद फिर से जन असन्तोष की लहरों के थपेड़े उठ-उठकर सत्ता की दीवारों से टकराने लगेंगी। प्रतिस्पर्धात्मक राजनीति इस असन्तोष को उभारने में फिर से सहायक होगी। इस अभिक्रिया के कई दौर चलेंगे। अन्तिम परिणाम के रूप में पूँजीवादी लोकतन्त्र समाजवादी लोकतन्त्र का चरित्र धारण कर सकेगा। क्रॉनी कैपिटलिज्म पूँजीवाद की उच्चतर अवस्था है। इस दीवार के ढाते ही समाजवादी लोकतन्त्र की सम्भावनाओं की कोंपलें निकल सकेंगी। इस बदलाव तक पहुँचने के लिए जन-चेतना का लगातार विस्तार और असन्तोष का इजहार होते रहने की आवश्यकता है। लोहिया का प्रसिद्ध सूक्ति-वाक्य है–सड़कें जब सूनी हो जाती हैं तो संसद आवारा हो जाती है। सड़क का शोर ही संसद को आवारा होने से रोकता है।

■

सर उठाते सवाल

मृत्युंजय श्रीवास्तव

संसद में महिला को आरक्षण देने वाला बिल कब का पारित हो चुका है, मगर उस पर अमल कब होगा यह अँधेरे में है। अब कहा जा रहा है 2034 में यह लागू होगा। अब तक यह बताया गया था कि 2029 के लोकसभा चुनाव से यह अमल में आ जाएगा। भारत ने महिलाओं को मतदान करने का अधिकार संविधान लागू होने के साथ-साथ दिया था, मगर शासन में उनकी भागीदारी सुनिश्चित करने में इतनी देर क्यों हो रही है?

अमेरिका में डोनाल्ड ट्रम्प ने अपनी दूसरी पारी की शुरुआत के पहले ही धमकी देना आरम्भ कर दिया है। धमकी है कि अगर किसी देश ने डालर के बजाय किसी दूसरी मुद्रा से व्यापार किया तो उसे इसकी सजा मिलेगी। यह धमकी इन्होंने ब्रिक्स में शामिल देशों को दी है, जिसमें भारत शामिल है। ब्रिक्स ने अपनी मुद्रा बनाने की पेशकश की है।

डॉलर से दुनिया पर राज करने वाला देश इसे चुनौती के रूप में देख रहा है। यह एशियाई देशों के लिए एक नया तनाव है। भारत और रूस का नया व्यापारिक सम्बन्ध सरदर्द का एक कारण हो सकता है। आज के युद्धकाल में भारत रूस से तेल का सबसे बड़ा आयातक देश है। भारत को ट्रम्प ने यह धमकी दी है कि वे अपने देश में भारत से निर्यातित वस्तु पर टैक्स बढ़ा देंगे। अमेरिका के साथ व्यापार के मामले में भारत ट्रेड सरप्लस की स्थिति में है, वह प्रभावित होगा। स्विट्जरलैण्ड ने भारत को अपने 'मोस्ट फेवर्ड नेशन' (एम. एफ.एन.) की सूची से बाहर कर दिया है। भारत का व्यापार यहाँ भी प्रभावित होगा।

बांग्लादेश में खालिदा जिया अपनी वापसी की तैयारी कर रही हैं। जाहिर है कि खालिदा जिया भारत के लिए राजी-खुशी का माहौल नहीं रहने देंगी। खालिदा जिया की पार्टी बी. एन.सी. के एक जिम्मेदार पदाधिकारी ने कहा है कि उनकी नजर पश्चिम बंगाल, बिहार और उड़ीसा पर है। यह उनका बांग्लादेश में होने वाले चुनाव के लिए जुमला हो मगर यह सच है कि भारत की ओर से बांग्लादेश के बन्दरगाहों के इस्तेमाल की पेशकश खटाई में पड़ गयी है। भारत के व्यापारियों ने भुगतान न मिलने की आशंका से निर्यात की गति धीमी कर दी है। बांग्लादेश के लिए यह चिन्ता का विषय हो सकता है परन्तु भारत का व्यापार यहाँ भी प्रभावित होगा।

ट्रम्प ने कनाडा पर दाँत गड़ा रखा है। एक स्वायत्त देश को अपना राज्य बना लेने का दबाव पैदा करना शुरू कर दिया है। ट्रम्प कनाडा के प्रधानमन्त्री को गवर्नर कहकर सम्बोधित कर रहे हैं। अभी थोड़े समय पहले ही कनाडा ने भारत के लिए सरदर्द पैदा किया था। कनाडा ने अपने देश में रह रहे भारत के प्रो खालिस्तानी पंजाबियों को हवा दी थी। सीरिया में तख्तापलट हो चुका है। सभी देशों में नये तानाशाहों के लिए गुंजाइश बन रही है।

म्यांमार ने बांग्लादेश की सीमा से लगी जमीन हथियाने के लिए हड़कम्प मचा रखा है। खबर है कि उसने कब्जा कर लिया है। सम्भव है भारत म्यांमार के साथ खड़ा हो। भारत और म्यांमार का वाणिज्यिक हित जुड़ा हुआ है। बांग्लादेश की वर्तमान तदर्थ सरकार के साथ भारत का सम्बन्ध सहयोग का नहीं है। यह सम्भव भी नहीं है। भारत चुनाव के लिए दबाव बना रहा है। बांग्लादेश के वर्तमान शासक ने इसके लिए आना-कानी करते हुए चुनाव कराने का वादा किया है, मगर लगभग

लेखक प्रबुद्ध साहित्यकार, अनुवादक एवं रंगकर्मी हैं
+919433076174
mrityunjoy.kolkata@gmail.com

एक साल बाद। कई देशों में लोकतान्त्रिक आवरण में तानाशाह पैदा हो रहे हैं।

जापान की आर्थिक स्थिति लगातार बिगड़ रही है। इतनी कि वह अपने देश में सेक्स टूरिज्म को बढ़ावा दे रहा है। अब तक सेक्स टूरिज्म के लिए थाईलैण्ड और सिंगापुर जाना जाता है। जापान जैसा समृद्ध देश इस स्थिति में आ सकता है, यह भारत और एशिया के कई देशों के लिए चेतावनी है। एक रपट के अनुसार चीन जापान में विकसित हो रहे सेक्स बाजार का सबसे बड़ा खरीदार है। इसे केवल आर्थिक संकट के रूप में नहीं, एशिया के लिए सांस्कृतिक संकट के रूप में देखा जाना चाहिए। भारत में समय-समय पर अलग-अलग शहरों से नये तरह के सेक्स मार्केट की खबरें आती हैं।

चीन के साथ भारत का व्यापारिक और सीमा-सम्बन्ध पहले ही तनावपूर्ण है। हालाँकि भारत चीन जाकर उनसे तत्काल यह आश्वासन लेकर आने में सफल हुआ है कि सीमा-विवाद को पॉजिटिव एप्रोच से सुलझाया जाएगा। यह पॉजिटिव एप्रोच एक जुमला भी हो सकता है। मगर नये साल में नये सिरे से एक उम्मीद रखनी है कि भारत के हित की अनदेखी नहीं होगी। चीन के साथ भारत की प्रतिद्वन्द्विता बनी हुई है। नेपाल का झुकाव भारत से सरककर चीन की तरफ चला गया है। यह पहली बार हुआ है कि नेपाल के नये प्रधानमन्त्री ने भारत आने के बजाय अपना पहला दौरा चीन का किया। अब तक चलन यह था कि नेपाल का नया प्रधानमन्त्री अपनी पहली यात्रा भारत की करता था।

दुनिया हिंसा की गहरी चपेट में है। शान्ति बहाल के लिए चिन्ता या सक्रिय पहल कहीं नहीं दिख रही है। यू.एन. जनरल एसेम्बली ने एक नयी पहल की है। उसने सी.ए.एच. ट्रीटी के लिए पहल की है। सी.ए.एच. यानी क्राइम एगेंस्ट 'ह्यूमैनिटी'। इसके माध्यम से यू.एन. महासभा हिंसा से निपटने के लिए नयी वैश्विक कानूनी व्यवस्था बनाएगी। 'क्राइम एगेंस्ट 'ह्यूमैनिटी' पहली नजर में सार्थक कदम लग सकता है, परन्तु यह अपने सदस्य देश की न्याय-व्यवस्था में दखलन्दाजी की व्यवस्था होगी। यह व्यवस्था प्रकारान्तर से सदस्य देश की न्याय-व्यवस्था को खारिज कर देगी। यही वजह है कि भारत ने इसे मान्यता नहीं दी है और न ही इसमें शामिल होने की सहमति दी है। भारत अपनी न्याय-व्यवस्था की स्वायत्तता बनाए रखना चाहता है। मानवता की रक्षा के नाम पर देशीय शासन-व्यवस्था को कमजोर करने की पहल है।

भारत सरकार ने किसानों को दिये अपने आश्वासन को केवल जुमला साबित किया है। नतीजा यह है कि किसान आन्दोलन फिर से जोर पकड़ रहा है। मगर उनकी एक नहीं सुनी जा रही है। किसान बेहाल अवश्य हैं, मगर नाउम्मीद नहीं हैं। वे अपनी माँगों को बार-बार दुहरा रहे हैं। किसान सरकारों के सामने परेशानी के सबब बने हुए हैं। सरकार उन्हें राजधानी में प्रवेश नहीं करने दे रही है।

संसद में महिला को आरक्षण देने वाला बिल कब का पारित हो चुका है, मगर उस पर अमल कब होगा यह अँधेरे में है। अब कहा जा रहा है 2034 में यह लागू होगा। अब तक यह बताया गया था कि 2029 के लोकसभा चुनाव से यह अमल में आ जाएगा। भारत ने महिलाओं को मतदान करने का अधिकार संविधान लागू होने के साथ-साथ दिया था, मगर शासन में उनकी भागीदारी सुनिश्चित करने में इतनी देर क्यों हो रही है? ऐसी स्थिति में अम्बेडकर की याद स्वाभाविक है। वर्तमान शासन के लिए अम्बेडकर चुनौती बनकर खड़े हैं। संसद में अम्बेडकर की अवमानना देश के लिए चिन्ता का विषय बना है।

रोजगार का बाजार मन्दा है। श्रम करने का अवसर लगातार कम होता जा रहा है। नौकरी जिन्हें मिली है वे दास की अवस्था को प्राप्त हो रहे हैं। काम करने की सभी वैधानिक और संवैधानिक आयतों को मौन कर दिया गया है। कई उद्योगपति देश के तरुणों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि चौदह-चौदह घण्टे काम करने की जरूरत है। उद्योगपतियों की इस मंशा से एक ओर दासप्रथा को बल मिल रहा है दूसरी ओर रोजगार के अवसर कम हो रहे हैं। ए आई भी रोजगार चर रहा है। जनवरी में बेंगलुरु में चालक रहित मेट्रो शुरू होने की खबर आ चुकी है।

भारतीय शब्दकोश से 'अनेक' शब्द को हटाने की कोशिश लगातार की जा रही है। 'अनेक' शब्द की जगह 'एक' शब्द की महत्ता लगातार गायी जा रही है। अनेकता की एकता को बर्खास्त करने की तेज हवा चल रही है। एक राष्ट्र एक टैक्स का सौगात राष्ट्र को 2017 में मिल चुका है। एक राष्ट्र एक कानून और अब एक देश एक चुनाव का तूफान खड़ा कर दिया गया है। एक देश एक धर्म की पुकार पल रही है। भारतीय ज्ञान परम्परा की खोज वह पहल है जो भारत की समासी ज्ञान-परम्परा की जगह एकांगी ज्ञान-परम्परा पर फोकस करती है।

दुनिया राजनीतिक आतंकवाद, सामाजिक आतंकवाद, साम्प्रदायिक आतंकवाद का सामना दशकों से कर रही है, अब वह टैक्स आतंकवाद का शिकार बन रही है। डोनाल्ड ट्रम्प न केवल एशियाई देशों को धमका रहे हैं, यूरोपीय यूनियन को भी टैक्स की धमकी दे रहे हैं। वजह यह है कि अमेरिका पर कर्ज का बोझ लगातार बढ़ता जा रहा है। अमेरिका की आने वाली सरकार के नुमाइन्दे डेट सीलिंग समाप्त करने का दबाव दे रहे हैं।

■

(पृष्ठ 9 का शेषांश)

दिया था, तो यह भी नहीं भूलना चाहिए कि महात्मा गाँधी भी उसी पूँजीवादी सड़ान्ध और उसकी विकृतियों के प्रति प्रतिरोध से ही जन्मे थे और मानते थे कि उनके स्वराज और सर्वोदय के लक्ष्य में सबसे बड़ी बाधा पूँजीवाद ही है। हम पीछे लौट नहीं सकते, पर अपनी आवश्यकताओं को सीमित कर, पारिवारिक मूल्यों को वरीयता देकर, सांस्थानिक गुणों को अपनाकर और वैयक्तिक सुख की क्षुद्र आकांक्षाओं को त्यागकर इस भयावह विकृति से पीछा छुड़ा सकते हैं। इसमें गाँधी हमारे लिए सबसे कारगर हथियार हैं जो हमें अपने स्वत्व के साथ जीने और सहकार के साथ निर्वाह करने की निरन्तर सीख देते हैं। अगर ऐसा कर सकने की प्रवृत्ति हम विकसित नहीं कर पाये तो सामाजिक अलगाव और एकाकीपन के उस भयानक त्रासदी को आमन्त्रण देना होगा जो एक दिन हमारी जीती-जागती मानवीय सभ्यता को मिटा डालेगी। यह नये वर्ष की सबसे बड़ी चुनौती है और विकट प्रश्न भी, जिसका सामना किये बिना हमारा निस्तार नहीं है।

■

आज की बदलती दुनिया

विजय कुमार

हमारे सामने आज बढ़ती सामाजिक-आर्थिक असमानता, संसाधनों के असमान वितरण, पूँजी और सत्ता के केन्द्रीयकरण, सामाजिक अलगाव और एकाकीपन ने महिलाओं के प्रति हिंसा को बढ़ावा दिया है। प्रकृति के अन्धाधुन्ध दोहन ने आज पर्यावरण को इतना क्षतिग्रस्त कर दिया है कि हमारा अस्तित्व खतरे में पड़ गया है। हम एक शान्तिपूर्ण, न्यायपूर्ण और समावेशी दुनिया के निर्माण की दिशा में आगे नहीं बढ़ पाये हैं।

लेखक पाश्चात्य दर्शन के शिक्षक तथा भारतीय दर्शन के विद्यार्थी हैं।

+91 9135041221

vijaykumar1701@gmail.com

यह स्पष्ट है कि समय और परिवर्तन जुड़वा भाई हैं। समय की गति के साथ-साथ सम्पूर्ण विश्व गतिमान रहता है रात-दिन में ढलता रहता है। मौसम बदलता रहता है। पीढ़ी वृद्ध होती जाती है बच्चे जवान। इतना ही नहीं दुनिया में जीवित रहने के लिए उत्पादन और पुनरुत्पादन का क्रम चलता रहता है एक ओर परिवार, समाज और धर्म निर्मित होते हैं, दूसरी ओर व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा और धन एवं सत्ता की केन्द्रीयता बढ़ती जाती है। फिर भी यह बदलती हुई दुनिया हमारी चिन्ता का विषय बन रही है यह एक सवाल है।

समाज, राजनीति और अर्थव्यवस्था में गहरे परिवर्तन हो रहे हैं फिर इस बदलाव के प्रति अतिरिक्त संवेदनशील होने की क्यों आवश्यकता प्रतीत होती है? कुछ लोगों की दृष्टि में सामाजिक और आर्थिक असमानता बढ़ गयी है, धन और संसाधन का असमान वितरण बढ़ रहा है, पूँजी और सत्ता का केन्द्रीयकरण हो रहा है, युद्ध और नरसंहार जारी है। सामाजिक अलगाव और एकाकीपन का मानसिक स्वास्थ्य और जीवन पर कुप्रभाव दिखाई दे रहा है।

प्रश्न है क्या यह सब अचानक से प्रकट हो गया है? क्या संसार कभी भी अन्तर्द्वन्द्व प्रतियोगिता शक्ति के दुरुपयोग से मुक्त था? वास्तव में जो हमारे सामने है हम समझते हैं शायद इतिहास का यह सबसे कठिन दौर है और जीवन को बेहतर बनाने का यह महती कार्य इतिहास ने आज हमारे कन्धों पर पहली बार दे रखा है। वास्तव में ऐसा नहीं है, मानव इतिहास अनेक भयंकर संकटों से जूझता हुआ यहाँ तक पहुँचा है आदिमानव जब जंगल में शिकार करते हुए या कन्दमूल से अपना पेट भरते थे तब उनकी स्थिति की दयनीयता और असुरक्षा कम न थी। फिर आग और पहिये की खोज ने उनके जीवन में क्रान्तिकारी बदलाव भी लाया था।

मध्ययुगीन राजवंशों को लीजिए, क्या उन्होंने सत्ता विस्तार के लिए कम जुल्म किया था? क्या लोगों ने कम कष्ट उठाया था? यह सच है कि आधुनिक औद्योगिकरण ने जहाँ अथाह सुविधा प्रदान किया है उसने अथाह कष्ट भी पैदा किया है। मनुष्य के पुराने सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक ताने-बाने को नष्ट किया वहीं नयी सुन्दर स्थितियों को जन्म दिया तो मनुष्य के सामने अस्तित्व का संकट भी खड़ा कर दिया है।

हमें यह ज्ञात है कि हम इस पृथ्वी पर एकमात्र प्रजाति नहीं हैं हमारे अत्याचारों के बावजूद जो आधुनिक सभ्यता से अपने जीवन-यापन के क्रम में जाने-अनजाने उत्पन्न हुए है, हजारों प्रजातियों के नष्ट होने का कारण बना है। आज हमारी चिन्ता की दो वजहें स्पष्ट हैं। एक आन्तरिक और दूसरा परिस्थितिजन्य स्थिति। परिस्थितिजन्य चिन्ता यह है कि हमने जीवन को जो रूप दिया है उसने हमें सामूहिक आत्म-विसर्जन के कगार

पर खड़ा कर दिया है। विभिन्न प्रकार के रोगों, संवर्धित वायरस जैसे कोरोना कार्बन उत्सर्जन संस्थाओं का कुप्रबन्धन वह भी तब जब हमारे पास अपनी बुद्धि से कई गुना ज्यादा सक्षम कम्प्यूटर और आर्टिफिशियल इण्टेलिजेंस और हरित ऊर्जा के साधन उपलब्ध हो गये हैं।

दूसरा जिसे मैं अन्तरनिहित मानता हूँ वह इस विस्मरण से पैदा होता है कि व्यक्ति प्रकृति के खेल का हिस्सा है। बिग बैंग, सूरज और पृथ्वी की दूरी ऊर्जा का एक समुच्चय के बीच जीवन जन्म लेता है और संवर्धित होता है। इतना ही नहीं प्रकृति में मनुष्य होमो सेपियन का निर्माण सम्पूर्ण प्राकृतिक व्यवस्था से एक अर्थ में भिन्न हुआ है। भारत में कहा जाता है 84 लाख प्रजातियों से भिन्न है। वह भिन्नता क्या है? वृक्ष, पौधे, वनस्पति, कीड़े, मकोड़े और जानवर अपना भविष्य नहीं गढ़ते हैं, वे प्रकृति में पैदा होते हैं और प्रकृति की गोद में ही समाप्त हो जाते हैं। प्रकृति में विविधता की कमी नहीं है, फिर भी लगता है कि सब व्यवस्थित है। आम गर्मियों में पकते हैं और गेहूँ सर्दियों में। गाय, हाथी शाकाहारी तो शेर, कुत्ते मांसाहारी और बन्दर सर्वभक्षी। ना कोई परिवर्तन ना कोई चिन्ता का विषय। कुछ पौधे महीने-भर में मर जाते हैं तो कई सैकड़ो साल तक खड़ा रहता है।

परन्तु आदमी चेतनशील है उसकी आन्तरिक प्रेरणा उसे बाहर की दुनिया को पहचानने और बदलने की क्षमता देती है। हीगल ने कहा था–संस्कृति इसी दूसरी प्रकृति के निर्माण का नाम है।

जब हम सामूहिक रूप से संस्कृति और सभ्यता का निर्माण करते हैं तो एक ओर हममें प्रकृति प्रदत्त प्रेरणा काम करती है, वहीं दूसरी ओर नयी सामाजिक स्थिति का जन्म होता है, जो अपने तरीके से प्रभाव डालती है।

जब भी कोई चीज प्रकट होती है तो द्वैत साथ-साथ प्रगट हो जाता है। दर्शन की भाषा में इसे विपरीत की एकता (यूनिटी ऑफ अपोजिट) कहते हैं। आगे जब हम विचार करते हैं तब स्पष्ट दिखाई देता है कि हमारी प्राकृतिक प्रेरणा दोहरी है। कुछ हमें जंगल की ओर ले जाती है तो कुछ नयी जिन्दगी की ओर। हमारा ध्यान इस ओर नहीं है कि यह विसंगति क्यों पैदा हुई? इस विसंगति का स्वरूप क्या है और इससे हम कैसे निकल सकते हैं?

आज के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन के समस्त बदलाव का अवलोकन तो एक लेख में नहीं हो सकता मैं कुछ ही मुद्दों को आपके सामने रखने का प्रयास करता हूँ। आज हमारे जीवन के राजनीतिक मूल्य में जो परिवर्तन दिखाई देते हैं उसके क्या कारण हैं। यह परिवर्तन सभी मुद्दों को गम्भीर रूप से प्रभावित करता है या निर्देशित करता है।

यूरोप में 14वीं और 16वीं शताब्दी के मध्य अनेक परिवर्तन देखे गये। इस परिवर्तन को पुनर्जागरण के नाम से जाना जाता है। रेनेसां और रिफॉर्मेशन के परिणामस्वरूप मानव गतिविधि के उच्चतम और सबसे महान रूप में तपस्या को जीवन के मध्ययुगीन आदर्श के स्थान पर मानवतावादियों ने प्रकृति से संघर्ष और उस पर प्रभुत्व स्थापित करने को देखा।

मानवतावाद का प्रभाव लोगों को धार्मिक रूढ़िवाद द्वारा लगाये गये मानसिक प्रतिबन्धों से मुक्त होने में मदद किया। स्वतन्त्र जाँच और आलोचना को प्रेरित कर मानव के विचार और रचनात्मक्ता की सम्भावनाओं में एक नया आत्मविश्वास जगाया था।

लेकिन गृह-युद्धों के नये दौर ने नये विचारों को दबा दिया फिर भी आन्दोलन ने मानवतावाद के जिन विचारों को जन्म दिया उसे भुलाया नहीं जा सकता है। जिस तरह बिना क्रिया-कलाप के अन्तर्दृष्टि को बंजर और अपूर्ण मानकर खारिज किया गया। इस विचार ने क्रिया-कलाप और चिन्तन के बीच एक शानदार सन्तुलन की माँग की और जिसके केन्द्र में मनुष्य था। इन्हीं मानवतावादियों ने यथार्थवाद को अपने-अपने चिन्तन में सम्मिलित किया अपनी पारम्परिक मान्यताओं के स्थान पर कथित अनुभव के वस्तुनिष्ठ विश्लेषण पर ध्यान केन्द्रित किया। जिसके फलस्वरूप समाज विज्ञान का जन्म हुआ।

पुनर्जागरण और सुधार आन्दोलन ने अनेक बातों का सूत्रपात किया किन्तु मनुष्य की कल्पना के इस उड़ान से सबसे महत्त्वपूर्ण बात जो प्रकट हुई, वह था लोकतन्त्र। जिसे अब आधुनिक दुनिया फ्रांस की क्रान्ति 1789 के रूप में मील का पत्थर मानती है। जिसने मनुष्य मात्र को साधन-सम्पन्न और सबों के लिए सम्मानपूर्ण जीवन की बात के साथ ही इस दौर में फ्रांस के राजा को फाँसी दे दी गयी, जर्मनी में राजतन्त्र खत्म कर दिया गया यहाँ तक कि रूस में भी जारशाही का अन्त हुआ।

प्रजातन्त्र अपने-आप में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि इसलिए है कि आज उसका जो-जो स्वरूप सामने उपस्थित है, उसी ने आधुनिक दुनिया के निर्माण में निर्णायक भूमिका अदा की है। इसकी कमजोरी ने समाज को कमजोर किया है और समस्याग्रस्त इसकी मजबूती हमें इन कठिनाइयों से बाहर निकाल सकती है।

यह प्रजातन्त्र अगर गम्भीरता से देखा जाये तो प्राचीन दुनिया के आधुनिक दुनिया में हस्तान्तरण का सबसे बड़ा प्रतीक भी है और उपकरण भी। यही आधुनिक दुनिया की सभी समस्याओं का कारण बनी है और इसका निदान भी बन सकती है।

हजारों सालों के दासता उपनिवेशवाद सामन्तवाद मुक्ति की आशा बनकर लोकतन्त्र का स्वप्न देखा गया था। इसने सबों के लिए सामान्य स्वतन्त्रता, खुशहाली और आत्म-सम्मान समावेशी विकास की परिकल्पना की थी। लेकिन इन क्रान्तिकारी विचारों ने जिस सामाजिक-राजनीतिक बदलाव को जन्म दिया क्या वह अपना दायित्व पूरा कर सका है? हमारे सामने आज बढ़ती सामाजिक आर्थिक असमानता, संसाधनों के असमान वितरण, पूँजी और सत्ता का केन्द्रीयकरण, सामाजिक अलगाव और एकाकीपन ने महिलाओं के प्रति हिंसा को बढ़ावा दिया है। प्रकृति के अन्धाधुन्ध दोहन ने आज पर्यावरण को इतना क्षतिग्रस्त कर दिया है कि हमारा अस्तित्व खतरे में पड़ गया है। हम एक शान्तिपूर्ण, न्यायपूर्ण और समावेशी दुनिया के निर्माण की दिशा में आगे नहीं बढ़ पाये हैं।

विडम्बना है कि अपने प्रारम्भिक काल से ही फ्रांस की क्रान्ति नेपोलियन की महत्त्वाकांक्षा की शिकार हुई। 18वीं शताब्दी के महान दार्शनिक कार्ल मार्क्स इन सभी

आन्दोलन का समर्थन करते हुए इसके इसके भविष्य के प्रति सन्देह से भरे हुए थे। इसके विपरीत लोगों के द्वारा लोकतन्त्र को वास्तविकता में बदलने के लिए आवश्यक प्रयत्न नहीं किया जा सका। यह सोच लेना कि सब कुछ अपने-आप हो जाएगा, यह हमारी सबसे बड़ी भूल थी। भारत में भी आजादी के बाद वयस्क मताधिकार लागू कर हमने सोच लिया था। लोकतन्त्र लागू हो जाएगा। परिणाम स्वरूप आज हम तानाशाह या सत्ताधारियों की अधीनता के तले जीने को विवश हैं। चाहे वह पुतिन हो या किम जोन, नितिन याहू, पुतिन या मोदी ही जन-आकांक्षाओं की धज्जी उड़ा रहा है। इतिहास की गति को कौन नियन्त्रित कर रहा है कुछ पता नहीं चलता। चुनाव के प्रति लोगों में वह उत्साह नहीं रह गया। न्यूयॉर्क के चुनाव में सिर्फ 14% लोग वोट देने निकलते हैं। भारत में भी मत देने वालों की संख्या घट रही है और चुनाव ऑटोक्रेट पैदा कर रहे हैं। अब चुनाव जनता के द्वारा जनता के लिए नहीं बल्कि जनता के द्वारा सत्ताधारियों के लिए तन्त्र का निर्माण किया जाता है। किसी राजनीतिक सफलता को हम सिर्फ चुनाव और सरकार से नहीं समझ सकते। क्योंकि लोकतन्त्र एक जीवन-पद्धति है, यह सिर्फ एक राजनीतिक तन्त्र नहीं। हम उस जीवन-पद्धति को विकसित करने में असफल रहे जिसके कारण एक परिष्कृत राजनीति हमारे बीच होती।

कभी-कभी प्रतीत होता है कि हमारे समय में परिकल्पनाओं का सूखा है। ऐसे में पाश की पंक्तियों का याद आना 'सबसे बड़ी मौत होती है आदमी के सपनों का मर जाना' स्वाभाविक है। लोकतन्त्र के नाम पर समाज में होने वाली राजनीतिक गतिविधियाँ समाज को गति नहीं दे पा रही हैं। समाज भी आगे बढ़कर राजनीतिक-सामाजिक मूल्यों को स्थापित करने में सक्षम नजर नहीं आ रहा है। हम जिस वैश्विक संकट का सामना कर रहे हैं वास्तविकता यह है उसने हमें अनिश्चितता के युग में धकेल दिया है और हम पीछे की ओर लुढ़क रहे हैं। भविष्य में अच्छा करने के लिए हमें सर्वप्रथम उन मूल्यों पर विचार करना होगा जिसके इर्द-गिर्द जीवन चल रहा है। अगर उपभोक्तावाद, बाजारवाद, क्षुद्र स्वार्थ को हमने जीतने दिया तो निश्चित ही सत्ता लोकतन्त्र को नष्ट करती रहेगी। मानवीय मूल्यों को नशे में डुबा देगी और एक टूटा हुआ समाज लोकतन्त्र को पुनर्जीवित नहीं कर सकता है। आधुनिक संस्कृति जो उपभोक्तावाद और व्यक्तिवाद के दो स्तम्भों पर खड़ी है उसे सामुदायिक जीवन-पद्धति पर आधारित बनाना होगा। हमारी राजनीतिक व्यवस्था उन मूल्यों पर आधारित कैसे हो कि मनुष्य की सामूहिक चेतना को सामाजिक हित के प्रति समर्पित किया जा सके। मनुष्य का जीवन आर्थिक विकास को केवल समर्पित नहीं किया जा सकता बल्कि वहाँ करने योग्य समावेशी परिवर्तन की ओर प्रेरित किया जाना चाहिए। हम जिस सामाजिक, आर्थिक और वैचारिक संकट से जूझ रहे हैं, अनजाने उसी अन्धी दौड़ में शामिल हैं जो हमारे अस्तित्व के लिए खतरा बन सकती है।

300 वर्षों में औद्योगिकरण ने एक नयी दुनिया का निर्माण किया है जिसने पुनर्जागरण के मूल्य से किनारा कर लिया है। भारत में भी दयानन्द सरस्वती, राजा राममोहन राय और कई अन्य लोगों ने धार्मिक सुधार आन्दोलन शुरू किया था, वह पुनरुत्थान में डूब गया है। वैचारिक रूप से समाज उन मूल्यों को अपनाने में असफल रहा है जो एक बेहतर समझ का निर्माण कर सके। लेकिन आज हमारे सामने इसके सिवाय कोई विकल्प नहीं है कि हम नये सिरे से मनुष्य के हितों को केन्द्र में रखते हुए लोकतान्त्रिक जीवन-मूल्य निर्मित करें।

■

(पृष्ठ 5 का शेषांश)

हमारा सामाजिक जीवन एक विशेष किस्म के दोगलेपन और बौद्धिक जुगाली की भेंट चढ़ गया है। अत्यन्त चतुराई और बुद्धिमत्ता की गिरोहबन्दी से जीवन रस को सोख लिया है। समूची नागरिकता चेहराविहीन कबन्ध की तरह कैद कर ली गयी है। हमारा मंच भी त्रासद है और उसका नेपथ्य चीत्कारों से आच्छादित है। मंच के सामने एक खुशफहमी से विकसित टेक्नॉलॉजी के घोड़े निरन्तर दौड़ाये जा रहे हैं और दूसरी तरफ जनजीवन की अस्मिता जीवनधारा और उसकी विशिष्टताओं का कत्लेआम जारी है। न जाने कितने शत्रु हमारे आस-पास नाटकों-नौटंकियों में नेटवर्किंग की राह खोल रहे हैं।

तामझाम और भव्यताओं की शक्ल में न जाने कितने सोचों, साँचों और कार्रवाइयों के रूप में जन-कल्याण की दुहाइयों के साथ झाँक रहे हैं। उनके पास कितने क्षितिज हैं कितने साधन और प्रसाधन हैं। यही नहीं जितनी बची हुई जगहें थीं वहाँ विकास की तरह शिलान्यास के पत्थर गाड़े जा रहे हैं। बाजार प्रबन्धन से समय समाज जूझ रहा है। यथार्थ इन दिनों झूठ की लार्ज स्केल खेती के रूप में उभरा है और किसानों के बधियाकरण में जौहर दिखा रहा है। हम उत्सवों से चौंधिया रहे हैं लेकिन एक मरा हुआ नागरिक सपनों की पोटली बाँधे विस्थापितों की भीड़ बनाया जा रहा है। देखिये अब तो बीता हुआ साल भी बाजार था और जो आ रहा है वो तो महाबाजार की मुद्रा में विश्व गुरु की तरह परचम लहरा रहा है। कुशल प्रबन्धन ने हर चीज को रावण की तरह अपनी खाट में बाँध दिया है। जिसमें हत्या, बलात्कार, अपराध, जनतन्त्र और आजादी के मात्र उत्सव हैं। संविधान का पचहत्तरवाँ वर्ष भी चल रहा है और उसके विध्वंस की लीलाएँ भी। गलत इरादों की ठसक दिशाओं में गूँज रही है। सच को हलाल कर दिया गया है और उसके ऊपर झूठ की गारण्टी अपना जलवा दिखा रही है। अब तो यह नारा बह रहा है कि सफलता ही उच्चता और चरितार्थता है। सफलता के लिए कुछ भी किया जा सकता है। क्या नैतिक और क्या अनैतिक। और सफलता से समूचे रास्ते खोले जा सकते हैं। समूचे दुखों और आपदाओं के बीच हम सम्भावनाओं के संसार में हैं। स्वप्न और स्मृति के समानान्तर एक यथार्थ में लेकिन यह यथार्थ यथास्थिति नहीं है बल्कि एक नया दिनमान भी है। जिससे हम उम्मीदों की बाट जोह रहे हैं।

■

अर्थव्यवस्था और तकनीकी विकास की गलत राह

मृत्युंजय प्रभाकर

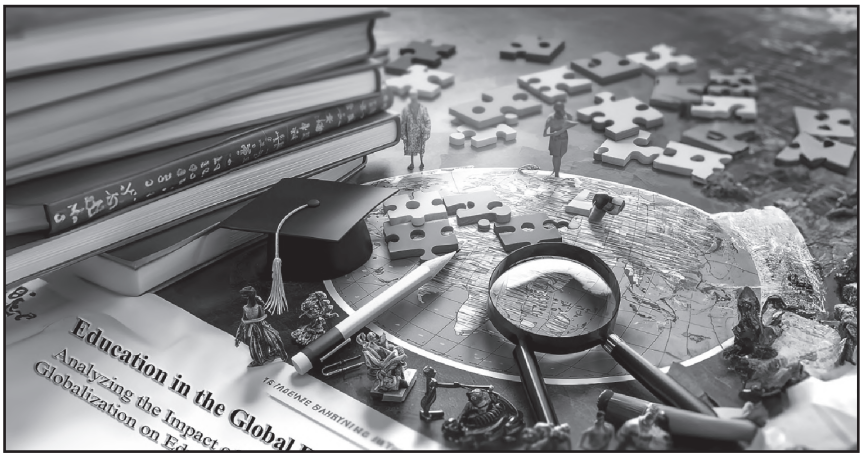

उत्तर-पूँजीवाद की अवधारणा यह मानती है कि पारम्परिक पूँजीवाद, जिसमें संसाधनों का केन्द्रीकरण और अत्यधिक लाभ का उद्देश्य है, अब समाज के लिए खतरे का रूप ले चुका है। उत्तर-पूँजीवाद इस बात पर जोर देता है कि हम एक ऐसे आर्थिक और सामाजिक मॉडल की आवश्यकता महसूस करते हैं, जो असमानता को कम करे और संसाधनों का वितरण अधिक समान रूप से हो। उत्तर-पूँजीवाद में यह विचार है कि आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक असमानताओं को कम करने के लिए हमें नये दृष्टिकोणों और उपायों की आवश्यकता है।

लेखक विश्वभारती, शान्तिनिकेतन में नाटक एवं रंगमंच कला के सहायक प्रोफेसर हैं।
+918170097507
mrityunjay.prabhakar@gmail.com

21वीं सदी में मानवता ने कई ऐतिहासिक बदलावों और उथल-पुथल का सामना किया है। आये दिन युद्ध और हिंसा की खबरें दुनिया-भर से आती रहती हैं। ताकतवर व्यक्ति ही नहीं बल्कि ताकतवर राष्ट्र भी स्वार्थ से अन्धे होकर अपना मनमानापन चला रहे हैं। दुनिया-भर में मूल्यबोध और नैतिकता का भयानक पतन हुआ है। अब हर कोई खुद को अपने अलावा किसी और के लिए जिम्मेदार नहीं मानता। पूरी दुनिया के सामने व्यक्तियों और राष्ट्रों की इस अन्धी सत्ता ने विकराल समस्या खड़ी कर दी है। दुनिया में पहले से समस्यायों का अम्बार है उस पर विशुद्ध लोभ-लाभ की इस नयी संस्कृति ने हमारी पूरी मानव सभ्यता को सर के बल खड़ा कर दिया है। इसके पीछे सर्वाधिक भूमिका उद्दण्ड और निरंकुश पूँजीवाद निभा रहा है जो फिलहाल चल तो उत्तर-पूँजीवाद के मानवीय मुखौटे के साथ रहा है लेकिन इसके प्रभाव में घट सब कुछ उल्टा ही रहा है।

यूँ तो उत्तर-पूँजीवाद की अवधारणा यह मानती है कि पारम्परिक पूँजीवाद, जिसमें संसाधनों का केन्द्रीकरण और अत्यधिक लाभ का उद्देश्य है, अब समाज के लिए खतरे का रूप ले चुका है। उत्तर-पूँजीवाद इस बात पर जोर देता है कि हम एक ऐसे आर्थिक और सामाजिक मॉडल की आवश्यकता महसूस करते हैं, जो असमानता को कम करे और संसाधनों का वितरण अधिक समान रूप से हो। उत्तर-पूँजीवाद में यह विचार है कि आर्थिक, राजनीतिक, और सामाजिक असमानताओं को कम करने के लिए हमें नये दृष्टिकोणों और उपायों की आवश्यकता है। इसका उद्देश्य समाज में न्याय और समानता को बढ़ावा देना है, जहाँ तकनीकी विकास और संसाधनों का उपयोग केवल लाभ की बजाय सामाजिक कल्याण के लिए किया जाये। लेकिन हकीकत में देखा जाये तो इसके दौर में असमानता, शोषण, गरीबी और भुखमरी में और इजाफा ही हुआ है। इसके अतिरिक्त सभ्यता, समाज और संस्कृति की जो हानि यह कर रहा है उसका कोई सानी इतिहास में कभी नहीं रहा।

उत्तर-पूँजीवाद के दबाव में तकनीकी विकास और वैश्वीकरण के साथ वैश्विक अर्थव्यवस्था में तेजी से बदलाव आये हैं, लेकिन इसके साथ ही सामाजिक, आर्थिक, और मानसिक संकट भी गहराये हैं। इनमें से एक प्रमुख संकट है मध्य वर्ग का सिकुड़ना, टूटते परिवार और बढ़ती हुई अकेलापन की भावना। जहाँ एक ओर हम तकनीकी विकास और डिजिटल कनेक्टिविटी की दुनिया में जी रहे हैं, वहीं दूसरी ओर यह विकास उल्टा प्रभाव भी उत्पन्न कर रहा है, जो हमें अपने समाज और परिवारों से दूर कर रहा है। 21वीं सदी में हम ऐसी दुनिया में रह रहे हैं, जहाँ एक

ओर आर्थिक और तकनीकी विकास ने नये अवसरों का सृजन किया है, वहीं दूसरी ओर इन बदलावों ने समाज के भीतर गहरे संकटों को जन्म दिया है। वैश्वीकरण, तकनीकी नवाचार, और मुक्त बाजार की नीतियों ने आर्थिक उन्नति को बढ़ावा तो दिया, लेकिन असमानता, परिवारों का टूटना, और व्यक्तिगत जीवन में अकेलेपन की भावना को भी बढ़ाया है।

सवाल यह उठता है कि इस बदलाव के पीछे की मुख्य वजह क्या है? क्या यह उत्तर-पूँजीवाद का नतीजा है जिस दिशा में दुनिया-भर के प्रथम श्रेणी के देशों ने, जहाँ पूँजीवादी शासन है, अपना कदम 21 वीं सदी में घुसने से पहले ही बढ़ा दिया है। क्या पूँजीवाद वास्तव में अपने सबसे खतरनाक दौर में प्रवेश कर चुका है, जिसे हम उत्तर-पूँजीवाद के नाम से जानते हैं? और अगर ऐसा है तो फिर इसका समाधान क्या हो सकता है? इस लेख में हम 21वीं सदी में वैश्विक आर्थिक प्रभावों और तकनीकी बदलावों के कारण विशेष रूप से भारत में होते सामाजिक परिवर्तनों पर विचार करेंगे।

21वीं सदी की शुरुआत में वैश्विक अर्थव्यवस्था ने तेजी से वृद्धि की, लेकिन इसका लाभ कुछ ही वर्गों और देशों तक सीमित रहा। वैश्वीकरण और मुक्त बाजार नीतियों ने जहाँ विकसित देशों और बड़े निगमों को फायदा पहुँचाया, वहीं विकासशील देशों में असमानता बढ़ी। पूरी दुनिया में हम देख रहे हैं कि अमीर और अमीर होता जा रहा है जबकि गरीब और भी गरीब होता जा रहा है। इसी दुरभिसन्धि के बीच घिरा मध्य वर्ग भी बुरी तरह सिकुड़ रहा है क्यूँकि उनके बीच से भी एक बहुत बड़ा तबका गरीबी रेखा के नीचे जाने को अभिशप्त हुआ है। खास तौर पर अगर कोरोना के बाद के समय की बात करें तो देखने में आता है कि ऐसा बड़े पैमाने पर हुआ है। मध्य वर्ग के हाथों से रोजगार और नौकरी के अवसर बुरी तरह छीने गये हैं और वह वापस गरीबी रेखा के नीचे जाने को मजबूर हो गये हैं। मध्यवर्ग का यह संकुचन एक ऐसी समस्या बन गया है, जो न केवल आर्थिक असमानताओं को जन्म देती है, बल्कि सामाजिक और मानसिक संकटों को भी बढ़ावा देती है।

मध्यवर्ग का सिकुड़ना सिर्फ आर्थिक दृष्टिकोण से एक संकट नहीं है, बल्कि यह लोगों के मानसिक स्वास्थ्य, आत्मविश्वास, और सामूहिक खुशहाली पर भी असर डालता है। जब लोगों को नौकरी के अवसर नहीं मिलते और वे आर्थिक असुरक्षा का सामना करते हैं, तो यह उनके व्यक्तिगत जीवन में तनाव और असन्तोष की भावना को जन्म देता है। इस सन्दर्भ में अगर बात की जाये तो यह साफ समझ में आता है कि इसमें उत्तर-

पूँजीवाद की बड़ी भूमिका है। उत्तर-पूँजीवाद ने दुनिया-भर में आर्थिक असमानताओं को तेजी से बढ़ावा दिया है। इसकी नीतियों के प्रभाव से एक बहुत ही सीमित वर्ग के पास संसाधन और शक्ति का केन्द्रण बढ़ा है, जबकि समाज के बाकी वर्गों के बीच आर्थिक संकटों का पहाड़ खड़ा हो गया है। आर्थिक चुनौतियों के साथ ही इस दौर में सामाजिक और सांस्कृतिक चुनौतियाँ भी बढ़ी हैं और इन सबमें दुनिया में पिछले 20-30 वर्षों में आयी तकनीकी क्रान्ति ने बड़ी भूमिका निभायी है।

आज के डिजिटल युग में, तकनीकी विकास ने दुनिया-भर के लोगों को आपस में जोड़ने का वादा किया था। स्मार्टफोन, सोशल मीडिया, और इण्टरनेट ने हमें आपस में कनेक्ट होने के अवसर दिये, लेकिन इन उपकरणों के साथ एक नयी समस्या भी आयी है–वह है अकेलापन। हालाँकि, देखने में लगता है कि हम ऑनलाइन होने के कारण दुनिया से पहले से अधिक जुड़े हुए हैं, लेकिन यह जुड़ाव वास्तविक और गहरे सम्बन्धों के निर्माण में सहायक नहीं, बल्कि बाधक ही बनकर खड़ी हो गयी है।

यह सोशल मीडिया का दौर है। अगर हमें याद हो तो 20वीं सदी के आखिरी दशक में उत्तर-पूँजीवाद 'दुनिया एक गाँव है' के नारे के साथ आया था। फिर 21वीं सदी में तकनीक और इण्टरनेट के पंख पर सवार होकर उस नारे को हकीकत में बदलता सोशल मीडिया आया। आरम्भ में इसने सूचना के प्रसार को बहुत चपल बना दिया और व्यक्तियों के बीच की दूरी को मिटाने का काम किया। ऐसा लगा बस हर चीज एक हाथ की दूरी पर है। एक फोन उठाओ और सब पा जाओ। इसे ही विज्ञापनकर्ताओं ने 'कर लो दुनिया मुट्ठी में' नाम से भुनाया। लोगों ने भी सोशल मीडिया पर जबरदस्त चहलकदमी दिखायी।

लेकिन देखने में आया है कि तकनीकी विकास के बावजूद समाज में मानसिक और भावनात्मक दूरी बढ़ रही है। आजकल के युवा अपने परिवार और दोस्तों के बजाय अधिक समय सोशल मीडिया पर बिताते हैं। व्यक्तिगत संवाद की कमी के कारण सामाजिक रिश्तों में गहराई नहीं रही है, और लोग मानसिक तनाव और अवसाद का शिकार हो रहे हैं। यह मानसिक विकार, खासकर उन देशों में, जहाँ समाज में अकेलापन बढ़ रहा है, एक बड़ी चुनौती बन गयी है।

धीरे-धीरे अब जब इसका असली रूप उजागर हुआ तो पता चला कि सोशल मीडिया

पर रिश्ते बहुत सतही होते हैं, और वास्तविक जीवन के संवाद की कमी से मानसिक और भावनात्मक दूरी बढ़ती है। कई शोधों ने यह साबित किया है कि सोशल मीडिया और इण्टरनेट के अत्यधिक उपयोग से अवसाद और मानसिक तनाव की समस्याएँ बढ़ रही हैं। परिवारों के टूटने, अकेले रहने की बढ़ती प्रवृत्ति और वास्तविक जीवन में रिश्तों की कमी का असर समाज पर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। हकीकत यह है कि तकनीकी उन्नति ने हमें कनेक्ट तो किया है, लेकिन सामाजिक और मानसिक स्तर पर हमें और अधिक दूर कर दिया है।

इस तकनीकी क्रान्ति के दौर में 21वीं सदी में परिवारों की संरचना में भी बहुत बड़ा बदलाव आया है। पहले संयुक्त परिवारों में हर व्यक्ति एक-दूसरे के साथ समय बिताता था, और आपसी समर्थन, सहयोग और देख-भाल की भावना प्रबल होती थी। आजकल परिवार छोटे हो गये हैं, और लोग अपने काम, शिक्षा या अन्य कारणों से अपने घर से दूर रहते हैं। वैश्वीकरण और शहरीकरण के प्रभाव से, छोटे परिवारों की संख्या बढ़ी है और एकल-पालक परिवारों की समस्याएँ भी तेजी से बढ़ी हैं। यह परिवर्तित परिवार संरचना मानसिक स्वास्थ्य पर नकारात्मक प्रभाव डाल रही है, क्योंकि पारम्परिक सामाजिक समर्थन-प्रणाली में कमी आयी है। इस बदलाव ने अकेलेपन की भावना को और बढ़ाया है, और लोगों को सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकता और भी महसूस हो रही है।

सबसे बुरा जो इसका प्रभाव हुआ है कि उत्तर-पूँजीवाद ने हमें 'उत्तर-सत्य/पोस्ट-ट्रुथ' के दौर में धकेल दिया है। इसने झूठ और सच के द्वैत को ही पूरी तरह से मिटा दिया है। अब न कुछ सत्य है, न झूठ है, सब बस अपने-अपने मानने की चीज है। हमारे पास सूचना के भण्डार और प्रसार की तेजी के नाम पर अब झूठी सूचनाओं का अम्बार है। उस पर तकनीक ने अब 'डीप फेक' खतरा अलग से लाद दिया है। आप किसी की आवाज और वीडियो का झूठा इस्तेमाल करके किसी भी बात को बिलकुल उलटे निहितार्थ में भी परोस सकते हैं। इसका खतरा इतना बड़ा है कि कल को झूठ/सच के बीच की जो बारीक रेखा अगर बची भी है तो उसे पूरी तरह से नष्ट कर देने की तैयारी है, और इस तैयारी को ए.आई. ने अलग ही स्तर पर पहुँचा दिया है। जाहिर-सी बात है दुनिया-भर में इनका सबसे गलत इस्तेमाल और फायदा विध्वंस में यकीन रखने वाले ताकतों ने किया और उठाया है। यही कारण है कि दुनिया-भर में 'फार-राईट' और 'फासीवादी' ताकतें एक बार फिर मजबूती से अपना सर उठा रही हैं।

इन सब चुनौतियों और समस्याओं के समाधान की बात करें तो हम उस मोड़ पर आ चुके हैं जहाँ से कोई वापसी की उम्मीद भी नहीं दिखती लेकिन फिर भी कोशिश तो की ही जा सकती है और एहतियात के तौर पर कुछ कदम भी उठाए जा सकते हैं। सरकारों को नीतियों के द्वारा आर्थिक असमानताओं को सबसे पहले कम करना होगा। यह न्यूनतम आय गारण्टी, स्वास्थ्य और शिक्षा के समान वितरण, और श्रमिकों के अधिकारों के संरक्षण के रूप में हो सकता है।

तकनीकी विकास को सिर्फ आर्थिक लाभ के तौर पर नहीं देखना चाहिए, बल्कि इसे सामाजिक और मानसिक विकास के नजरिये से भी इस्तेमाल करना चाहिए, इससे व्यक्तिगत सम्बन्धों को बेहतर बनाने और सामाजिक सहयोग को बढ़ावा देने में मदद मिल सकती है। वहीं परिवारों और समाजों में टूटने की प्रवृत्ति को रोकने के लिए सामाजिक सुरक्षा तन्त्रों को और मजबूत करना आवश्यक है। यह उन लोगों के लिए विशेष रूप से मददगार हो सकता है, जो मानसिक या शारीरिक संकटों से गुजर रहे हैं।

अगर भारत के सन्दर्भ में बात करें तो भारत में उत्तर-पूँजीवाद का प्रभाव और समाधान अन्य देशों से कुछ भिन्न हैं। यहाँ की सामाजिक और आर्थिक संरचनाएँ विशेष रूप से विविध हैं, और वैश्वीकरण ने यहाँ भी असमानता को बढ़ाया है। बेरोजगारी, बढ़ती असमानता, और मानसिक स्वास्थ्य के संकट एक बड़ी चुनौती बने हुए हैं। इसके अलावा, तकनीकी विकास ने शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों के बीच एक बड़ा अन्तर पैदा किया है, जिससे और भी अधिक सामाजिक असमानता सामने आयी है। भारत जैसे विकासशील देशों में उत्तर-पूँजीवाद के प्रभाव को कम करने के लिए हमें निम्नलिखित उपायों पर ध्यान देना होगा–

शिक्षा में क्रान्तिकारी बदलावः हमें इसके लिए भारतीय शिक्षा-पद्धति में क्रान्तिकारी बदलावों को लेकर आने की जरूरत है जो देश की युवा पीढ़ी को आगे आने वाली चुनौतियों से लड़ने के काबिल बना सके।

रोजगार की समस्या का वाजिब हलः भारत में रोजगार का संकट दिनोदिन विकराल रूप लेता जा रहा है। जल्द ही इसका कोई हल नहीं निकाला गया तो इसका दूरगामी प्रभाव बहुत ही खतरनाक हो सकता है।

ग्रामीण सशक्तीकरणः ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा और रोजगार के अवसरों में सुधार करके हम सामाजिक असमानता को कम कर सकते हैं।

सामाजिक सुरक्षा योजनाओं का विस्तारः कमजोर वर्गों के लिए सरकारी योजनाओं का विस्तार और बेहतर रोजगार अवसर प्रदान करना आवश्यक है।

मानसिक स्वास्थ्य जागरूकताः लोगों को मानसिक स्वास्थ्य और सामाजिक रिश्तों के महत्त्व के बारे में जागरूक करने से तकनीकी दुनिया में घिरे लोगों को अपने सामाजिक जीवन में सुधार करने की प्रेरणा मिल सकती है।

निष्कर्ष

21वीं सदी में तकनीकी और आर्थिक बदलावों ने हमें कई नये अवसर दिये हैं, लेकिन साथ ही कई नयी समस्याओं को भी जन्म दिया है। वैश्विक अर्थव्यवस्था में असमानता, तकनीकी विकास का नकारात्मक असर, और परिवारों का टूटना समाज में गहरे संकटों का कारण बन गये हैं। उत्तर-पूँजीवाद यूँ तो इन समस्याओं के जवाब के तौर पर उत्पन्न हुआ था लेकिन हकीकत में इसका प्रभाव उल्टा पड़ा है। अतः हमें अब एक नये दृष्टिकोण और सोच की जरूरत है, जो मानवता पर आये इस आसन्न संकट से हमें तत्काल छुटकारा दिला सके।

■

हिंसा और असमानता में घिरी अस्मिता

शान कश्यप

यह कैसे सम्भव होगा कि समाज अस्मिता के एक पक्ष को स्वीकृति दे और दूसरे को नकार दे। अगर दलित बहुजन अस्मिता को आगे ले जाना सामाजिक न्याय और समरसता की स्वीकृति है तो उसी अस्मिता का धार्मिक रूप जब हिन्दुत्व के भेष में उन्हीं दावों के साथ सामने आता है तो उसका विरोध कैसे किया जाये? विद्वानों और नीति-निर्माताओं को अस्मिता की राजनीति के कई पक्षों की पड़ताल एक तुले पर करनी होगी।

17 जून, 2019 को झारखण्ड के सुदूर सरायकेला-खरसावाँ जिले में 24 वर्षीय तबरेज अन्सारी अपने घर लौट रहा था। तभी कुछ लोगों ने उसे रोक लिया और उस पर मोटरसाइकिल चोरी करने का आरोप लगाया। भीड़ ने उसे पीटना शुरू कर दिया और उसे 'जय श्री राम' और 'जय हनुमान' का नारा लगाने पर मजबूर किया। लाठी-डण्डों से सात घण्टे तक बेरहमी से पीटने के बाद पुलिस उसे हिरासत में ले गयी और चोरी के लिए उसका 'कबूलनामा' दर्ज हुआ। लेकिन उस पर हुए हमले का जिक्र नहीं किया गया। 21 जून को उसे अस्पताल में भर्ती कराया गया और बाद में जमशेदपुर ले जाया गया, जहाँ चोटों के कारण अगले दिन उसकी मौत हो गयी। अन्सारी की मौत के साथ ही 2019 में ऐसे 11 मामले दर्ज हुए। यही हाल कमोबेश अखलाक अहमद, पहलू खान, जफर खान, जुनैद आदि कितनों का हुआ। ऐसे ही कई हमले कल्पवृक्ष गिरी और सुशील गिरि (पालगढ़), रतन लाल (दिल्ली), कमलेश तिवारी (लखनऊ), विकास यादव (कानपुर) आदि पर दूसरे धर्म के लोगों ने किया। 2014 में नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व वाली भाजपा के पहली बार सत्ता में आने के बाद से ऐसी घटनाओं की कुल संख्या 2019 तक 266 हो चुकी थी। 'मॉब लिंचिंग' समाज का नया नासूर बना।

मार्च 2023 में एक और जरूरी आँकड़ा सामने आया। केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री ने संसद को जानकारी दी कि साल 2014 से 2023 के मध्य सभी केन्द्रीय उच्च शैक्षणिक संस्थानों में कुल 122 विद्यार्थियों ने आत्महत्या की है। मरने वाले सभी अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और अन्य पिछड़ा वर्ग के थे।

अगर भारतीय गणराज्य के आरम्भिक दिनों की ओर देखें तो वस्तुस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं दिखता। 'भारत में 'हिन्दू-मुस्लिम हिंसा पर वार्ष्णेय-विल्किन्सन डेटासेट, 1950-1995, संस्करण 2' से पता चलता है कि अकेले 1950 से 1964 के बीच 16 राज्यों में साम्प्रदायिक हिंसा की कुल 243 घटनाएँ दर्ज की गयी थीं। भाषाई आन्दोलनों, अलगाववादी आन्दोलनों और क्षेत्रवाद की प्रमुख चुनौतियाँ स्पष्ट रूप से सक्रिय थीं। यह 1947 में स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्रीय एकीकरण को बाधित कर रही थीं।

ऐसी सभी घटनाओं में 'अस्मिता' या 'पहचान' की भूमिका केन्द्रीय है। वो चाहे मुस्लिम हों, अनुसूचित जाति या जनजाति के लोग हों, महिलाएँ हों या दंगों में किसी खास सामाजिक समूह की निशानदेही हो, यह निशानदेही अस्मिता आधारित होती है। एक तरफ भारतीय संविधान के अनुच्छेद 29 में हर नागरिक को अपनी भाषाई और तहजीबी पहचान बचाये रखने की गारण्टी है। लेकिन क्या दूसरी ओर इस गारण्टी को ऐतिहासिक तौर पर राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के लिए समझौतों की शर्तों से गुजरना पड़ा है? अगर अपनी अस्मिता को पुरजोर तरीके से बचाये रखा और उसे बढ़ावा देना एक संवैधानिक अधिकार है तो वही अस्मिता समाज में कई समूहों की निशानदेही कैसे करवाती है?

राष्ट्रीय एकीकरण और नागरिक की अस्मिता

1960 के दशक की शुरुआत तक 'राष्ट्रीय एकता' जवाहरलाल नेहरू के लिए सबसे बड़ी चिन्ता बन चुकी थी। 1 जून, 1961 को 'राष्ट्रीय एकता पर मुख्यमन्त्रियों के सम्मेलन' को सम्बोधित करते हुए नेहरू ने मुख्यमन्त्रियों और अन्य राज्य मन्त्रियों को सूचित किया कि भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के भावनगर अधिवेशन में एक राष्ट्रीय एकीकरण समिति (एन.आई.सी.) की स्थापना की गयी है। इसकी अध्यक्षा इन्दिरा गाँधी बनी थी। सम्मेलन की दूसरी बैठक में मुख्यमन्त्रियों और अन्य राज्य मन्त्रियों ने सहमति व्यक्त की– ''अलगाववादी प्रवृत्तियों की रोकथाम के लिए हर सम्भव प्रयास किया जाना चाहिए। भले ही वे धर्म, राज्य, जाति या भाषा पर आधारित हों। साथ ही एक राष्ट्रवादी, अखिल-भारतीय और धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण को हर सम्भव तरीके से

लेखक अनुवादक तथा रेवेंशा विश्वविद्यालय, कटक में आधुनिक इतिहास के शोधार्थी हैं।
+919437849484
shaan.kashyapp@gmail.com

प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।'' क्या इसका मतलब यह था कि धर्म, क्षेत्रीयता, जाति या भाषा आदि की विविधता को किसी अखिल भारतीय अस्मिता के निर्माण में बाधक पाया जा रहा था? 'विविधता में एकता' और इसके विरोधाभास की यह कैसी शर्त थी इसकी कहानी राष्ट्रीय एकीकरण समिति के इतिहास में प्रवेश करने पर स्पष्ट होती है। कुछ एक उदाहरण देने होंगे।

4 जून, 1961 को एक ही दिन में जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रीय एकीकरण के मुद्दे पर सादिक अली, ख्वाजा अहमद अब्बास और वाई.बी. चव्हाण को कई पत्र लिखे। सादिक अली को लिखते हुए नेहरू ने बताया कि वह 'एकीकरण की चुनौतियों' से कितना चिन्तित थे। उन्होंने अली को सूचित किया कि मौली चन्द्र शर्मा उनसे मिलने आये थे और उनसे अनुरोध किया है कि जनसंघ और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ आदि की गतिविधियों का मुकाबला करने के लिए हिन्दुओं के लिए किसी तरह का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण सीधे तौर पर अपनाया जा सकता है। नेहरू ने बताया कि उन्हें किसी भी दृष्टिकोण की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए और शर्मा के सुझाव पर विचार करने के लिए गम्भीर प्रयास करना चाहिए। उसी दिन ख्वाजा अहमद अब्बास को लिखते हुए नेहरू ने उन्हें धन्यवाद दिया कि लेखकों, फिल्म कलाकारों, कवियों और गायकों के एक प्रतिनिधिमण्डल ने दंगाग्रस्त जबलपुर (मध्य प्रदेश) का दौरा किया है। नेहरू आगे लिखते हैं कि अब्बास जैसे लोग विभिन्न समूहों के एकीकरण को आगे बढ़ाने में मदद कर रहे हैं। एक-दूसरे पत्र में नेहरू ने उर्दू प्रेस को कई श्रेणियों में विभाजित किया, जैसे, 'साम्प्रदायिकता की ओर झुकाव रखने वाला, साम्प्रदायिक और मध्यम रूप से साम्प्रदायिक, अन्य कमोबेश सन्तुलित दृष्टिकोण वाले'। नेहरू ने चव्हाण से पूछा कि क्या वह उर्दू प्रेस के सम्पादकों को बुला सकते हैं और उन्हें साम्प्रदायिक और अलगाववादी प्रवृत्तियों से लड़ने में सहयोग करने के लिए कह सकते हैं। उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री चन्द्र भानु गुप्ता (1902-1980) और सूचना और प्रसारण मन्त्री बालकृष्ण विश्वनाथ केसकर (1903-1984) को अन्य पृष्ठों में नेहरू उन्हें फिल्मों, नाटकों और थिएटर के माध्यम से 'भावनात्मक एकीकरण' प्रचार के बारे में सोचने के लिए कह रहे थे।

सवाल यह रह जाता है कि कुछ इतिहासकार जैसे आदित्य मुखर्जी जब स्वतन्त्र 'भारत के विचार' को केवल स्वतन्त्रता संघर्ष के एक पक्ष में देखते हैं तो उनसे कई अन्तर्विरोध छूट जाते हैं। यह कहना कि नेहरूवादी भारत की अस्मिता केवल सेक्युलरवाद, स्वायत्तता, वैज्ञानिक चेतना, समाजवाद और गरीबों के खैरियत तक सीमित थी अनैतिहासिक है। ऐसे कई ऐतिहासिक पक्ष छूट जाते हैं कई विरोधाभास थे और हैं जिनमें अस्मिता केन्द्रीय है और वे संघर्ष-ग्रस्त हैं।

नेहरू के बाद भी राष्ट्रीय एकीकरण समिति की विभिन्न बैठकों में साम्प्रदायिक सद्भाव स्थापित करने की आवश्यकता पर जोर दिया जाता रहा। इससे तीखी राजनीतिक बहसें भी हुईं! उदाहरण के लिए, 15 अक्टूबर, 1969 को आयोजित एक बैठक में एन.आई.सी. ने 500 शब्दों का नीतिगत वक्तव्य पारित किया जिसमें साम्प्रदायिक सौहार्द्र और सद्भाव के पक्ष में सभी राजनीतिक दलों द्वारा एक संयुक्त जन अभियान और शिक्षा की आवश्यकता पर जोर दिया गया। इससे काँग्रेस और जनसंघ के बीच एक बड़ी असहमति पैदा हो गयी क्योंकि कुछ परिषद सदस्यों ने जनसंघ के नेता बलराज मधोक की साम्प्रदायिक बयानबाजी के लिए आलोचना की। एन.आई.सी. में जनसंघ के प्रतिनिधि प्रो. महावीर ने वॉकआउट कर दिया। एन.आई.सी. में अन्दरूनी लड़ाई जारी रही। एक अन्य उदाहरण में, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (सी.पी.आई.) ने एन.आई.सी. की बैठक में भाग लेने से मना कर दिया क्योंकि उसे जनसंघ को शामिल करना और अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कड़गम और मुस्लिम लीग को परिषद से बाहर रखना 'असंगत' लगा।

अस्मिता की आवश्यकता

क्या अस्मिता की राजनीति वाकई एक अभिशाप है और इससे समाज में विभाजन और हिंसा बढ़ती है? विद्वान अलग-अलग मत रखते हैं। असगर अली इंजीनियर के मुताबिक मुद्दा कभी भी केवल जाति, धार्मिक या क्षेत्रीय पहचान का दावा नहीं है, बल्कि यह है कि पहचान सत्ता-व्यवस्था में भौतिक लाभ तक पहुँचने के लिए एक 'साधन' के रूप में कैसे कार्य करती है। उसी तर्ज पर दलितों के राजनीतिक दावों को और दलित अस्मिता की राजनीतिक आधार को शक की निगाह से देखा जाता रहा है। जाहिर है काँग्रेस के करीबी रहे इतिहासकारों ने स्वतन्त्रता आन्दोलन में जातीय और धार्मिक विरोधाभासों को 'सेकेण्डरी कण्ट्राडिक्शन' कहकर नकार दिया था। समकालीन भारत में जाति को राजनीतिक पहचान के रूप में इस्तेमाल करने को तब से विभाजनकारी माना जाता रहा है जब से कांशीराम ने बहुजन समाज पार्टी की स्थापना के लिए इसे विचारधारा के रूप में इस्तेमाल किया था। उसके बाद जब भी जाति-आधारित आरक्षण का मामला सामने आया तो 'अस्मिता की राजनीति' का आरोप मढ़ा जाता रहा। यह सबसे ज्यादा मण्डल आयोग की सिफारिशों के सम्बन्ध में हुआ। हालाँकि यह जाति-आधारित लामबन्दी महत्त्वपूर्ण थी। कांचा इलैया ने कई मौकों पर कहा है कि उत्तर-औपनिवेशिक भारत में लोकतन्त्र मुख्य रूप से उच्च जातियों तक ही सीमित था। बकौल इलैया, ''न तो पारिवारिक सम्बन्धों में, न ही बाजार सम्बन्धों में और न ही राजनीतिक सम्बन्धों में नागरिक समाज का लोकतन्त्रीकरण अभी तक हुआ है। जाति-व्यवस्था ने सामाजिक संरचनाओं और सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों में गतिशीलता को रोक दिया है।'' इलैया इससे एक कदम आगे जाते हैं। इलैया का तर्क है कि उत्तर प्रदेश में बसपा का उदय वास्तव में हिन्दुत्व और राम जन्मभूमि आन्दोलन के उदय की राजनीतिक प्रतिक्रिया थी। इलैया तर्क करते रहे हैं कि इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि संघ परिवार द्वारा हिन्दुत्व को हिन्दू राष्ट्रवाद की विचारधारा के रूप में प्रस्तुत करने के प्रयास जितने मजबूत होंगे, भारतीय सन्दर्भ में जाति के वैचारिकीकरण की सम्भावना उतनी ही अधिक होगी। ऐसा इसलिए क्योंकि भारत मूल रूप से एक जाति

समाज है। 'एक धर्म एक राष्ट्र' का हिन्दुत्व का नारा दलित बहुजनों को हिन्दुत्व से अपनी स्वायत्तता का दावा करने के लिए पर्याप्त आधार प्रदान करेगा क्योंकि दलित बहुजन कभी भी हिन्दू धर्म का अभिन्न अंग नहीं थे। इलैया के मुताबिक कांशीराम ने इस जमीनी हकीकत को समझा और महात्मा फुले, शाहू महाराज, पेरियार रामास्वामी नायकर और भीमराव अम्बेडकर की ऐतिहासिक विरासत का इस्तेमाल किया।

अस्मिता का विरोध

सवाल वही खड़ा है कि एक अस्मिता की स्वीकृति और दूसरे का विरोध क्यों? अगर दलित बहुजन अस्मिता को आगे ले जाना सामाजिक न्याय और समरसता की स्वीकृति है तो उसी अस्मिता का धार्मिक रूप जब हिन्दुत्व के भेष में उन्हीं दावों के साथ सामने आता है तो उसका विरोध कैसे किया जाये?

ऐसा नहीं है कि राज्य ने इन चुनौतियों को नहीं समझा। कम-से-कम कई दशकों तक इन समस्याओं से राज्य जूझता रहा। शिक्षा के हवाले कुछ स्पष्ट नीतिगत उदाहरण दिये जा सकते हैं। 1961 में राष्ट्रीय एकीकरण के साथ ही राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद (एन.सी.ई.आर.टी.) का भी गठन हुआ। तब तक मुदालियर आयोग (1953) और कोठारी आयोग (1966) जैसी विभिन्न शैक्षिक समितियों ने यह सिफारिश की थी कि राज्य सरकारें स्कूलों के स्तर पर पाठ्य-पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं। 1941-42 से ही भारत में पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण होने के बावजूद सरकारों को इस लक्ष्य को पूरी तरह से हासिल करने के लिए 1970 के दशक के मध्य तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। 1960 के दशक के मध्य तक केन्द्र सरकार ने पाठ्य-पुस्तकों में रुचि लेना शुरू कर दिया। भारत सरकार ने 31 दिसम्बर, 1968 को शिक्षा मन्त्रालय की अध्यक्षता में राष्ट्रीय विद्यालय पाठ्य-पुस्तक बोर्ड की स्थापना करने का बीड़ा उठाया। सभी राज्य के शिक्षा मन्त्री इसके सदस्य थे।

जून 1968 में श्रीनगर में आयोजित राष्ट्रीय एकता परिषद की बैठक में स्कूली पाठ्य-पुस्तकों की समस्या पर चर्चा की गयी। परिषद ने राष्ट्रीय एकीकरण के उद्देश्यों के लिए पाठ्य-पुस्तकों के उचित उपयोग पर बहुत बल दिया। ऐसा विचार रखा गया कि प्राथमिक से लेकर स्नातकोत्तर स्तर तक की शिक्षा को पुनः उन्मुख किया जाना चाहिए ताकि (क) भारतीयता, एकता और एकजुटता की भावना पैदा हो; (ख) भारतीय लोकतन्त्र के बुनियादी सिद्धान्तों में विश्वास पैदा हो; और (ग) राष्ट्र को एक आधुनिक समाज बनाने में मदद मिले।

यहाँ तक कि केन्द्र सरकार ने एन.सी.ई.आर.टी. के माध्यम से कुछ ऐसे राजकीय दस्तावेज बनाये जिनमें जातिवाद, सम्प्रदायवाद, क्षेत्रवाद, आदि की परिभाषाएँ भी दी गयीं। पाठ्य-पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण के मद्देनजर सभी स्कूली किताबों को इन 'अभिशापों' से मुक्त किया जाना था। एक ऐसे ही दस्तावेज 'स्क्रीनिंग रिकॉर्ड बुकलेट' (1970) द्वारा सुझायी गयी एक परिभाषा देखिये। साम्प्रदायिकता और धार्मिक असहिष्णुता को परिभाषित करते हुए दस्तावेज में लिखा गया, ''हमारा देश एक धर्मनिरपेक्ष लोकतन्त्र है जहाँ हम सभी को अपनी पसन्द के किसी भी धर्म का पालन करने की आजादी है। किसी पुस्तक में ऐसे अंश हो सकते हैं जो किसी विशेष धर्म से सम्बन्धित लोगों को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अपमानित करने और साम्प्रदायिक या धार्मिक असहिष्णुता को भड़काने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार किसी दूसरे धर्म से सम्बन्धित व्यक्ति के बारे में ऐसे अंश हो सकते हैं जो देश में किसी धार्मिक समूह की आम प्रथाओं की निन्दा करता हो। ऐसे अंश राष्ट्रीय एकता के लिए हानिकारक हैं। ''यह प्रयास कितना उत्तम लगता है। लेकिन भारत जैसी सभ्यता में जहाँ इतिहास दिनचर्या का एक अहम् हिस्सा हो, मजहबी निशानदेही तो आम बात है। यही कारण है कि हम आज तक अकबर और औरंगजेब के साथ महाराणा और शिवाजी की कथा कहते नहीं थक रहे। ऐसे में आगे कैसे जाया जा सकेगा?

अस्मिता की हिंसा

8 अगस्त, 1989 को 'द टाइम्स ऑफ इण्डिया' के कई रिपोर्टर भारत के 15 राज्यों के 70 नगरों और गाँवों में पहुँचे। वे चुनाव के पहले लोगों के बीच अहम् मुद्दों की थाह लेना चाहते थे। उन्होंने पाया कि बाबरी विवाद बिल्कुल कारगर मुद्दा नहीं था। खासकर दक्षिण के राज्यों जैसे, केरल, तमिलनाडु, कर्नाटक और आन्ध्र प्रदेश में और पश्चिम बंगाल, असम, जम्मू और कश्मीर आदि में लोगों ने इस मुद्दे को सिरे से नकार दिया। यहाँ तक कि कई लोगों को बाबरी विवाद के बारे में जानकारी तक नहीं थी। इसी रिपोर्ट में पुणे के मुस्लिम सत्यशोधक मण्डल से जुड़े एक समाज-सुधारक सैयद महबूब शाह ने एक जरूरी बात कही। उन्होंने गौर किया कैसे कई प्रमुख मुसलमान जैसे सैयद शहाबुद्दीन, मौलाना बुखारी और अन्य में एक होड़ लगी है कि अधिक उग्र कौन दिखेगा। उसी तरह कश्मीर के गुलबर्ग में दलित संघर्ष समिति के समन्वयक डीजी सागर ने दावा किया कि लोगों को बाबरी-राम जन्मभूमि विवाद की कोई खबर नहीं। लेकिन गुलबर्ग में संघ के प्रतिनिधि मंजूनाथ स्वामी ने दावा किया कि स्वयंसेवक कैसे कई गाँव घूमकर लोगों को मामले की खबर दे रहे हैं।

अगर बाबरी विवाद अस्मिता से जुड़ा हुआ सवाल है तो उसे कैसे देखा जाये। अगर 1989 तक देश के कई हिस्सों में लोग इससे अनजान थे तो यह राष्ट्रीय मुद्दा कब बनता रहा? सैयद महबूब शाह मुस्लिम अस्मिता के अधिक नजदीक हैं या सैयद शाहबुद्दीन? गुलबर्ग के लोगों के बाबरी विवाद पर विचारों को डीजी सागर के माध्यम से जाना जाये या मंजूनाथ स्वामी के?

अस्मिता से उपजी हिंसा और हिंसा की असमानता को जब तक इतिहास की दृष्टि में सन्दर्भित नहीं किया जाएगा वर्तमान यूँ ही धुँधलके में रहेगा। अगर प्रजातन्त्र में अस्मिता की राजनीति लामबन्दी और सत्ता के गलियारों का रास्ता खोलती है तो वह सामाजिक और आर्थिक संघर्ष और विवाद को भी जन्म देती है। विद्वानों और नीति-निर्माताओं को अस्मिता की राजनीति के कई पक्षों की पड़ताल एक तुले पर करनी होगी। यह कैसे सम्भव होगा कि समाज अस्मिता के एक पक्ष को स्वीकृति दे और दूसरे को नकार दे।

■

छः कविताएँ

शालू शुक्ला

जन्म : 8 मार्च, 1976; चन्द्रगढ़, मिर्जापुर (उत्तर प्रदेश)।
शिक्षा: हिन्दी साहित्य में स्नातकोत्तर।
रचना-कर्म: कविता-संकलन 'तुम फिर आना बसन्त' अनामिका प्रकाशन, इलाहाबाद से प्रकाशित। विशाल श्रीवास्तव के सम्पादन में प्रकाशित काव्य-संकलन 'जनरव' सहित अनेक सम्पादित काव्य-संकलनों में कविताएँ शामिल। हिन्दी की शीर्ष पत्र-पत्रिकाओं तथा वेब पत्रिकाओं; यथा–जनसन्देश टाइम्स, देशज, देशज समकालीन, इण्डिया इनसाइड, विपाशा, जानकी पुल आदि में कविताएँ, संस्कृति विषयक लेख तथा टिप्पणियाँ प्रकाशित। जबलपुर, दिल्ली, लखनऊ, प्रयागराज आदि में आयोजित अनेक साहित्यिक और सांस्कृतिक आयोजनों में कविता-पाठ सहित सांस्कृतिक प्रतिनिधि के रूप में भागीदारी।
सम्मान: शीला सिद्धान्तकर स्मृति कविता-सम्मान 2024
सम्पर्क: shuklashalu2076@gmail.com / 9598574344

रेखांकन : **प्रीतिमा वत्स**

शालू शुक्ला की कविताएँ समकालीन हिन्दी कविता के परिदृश्य में अपनी अभिव्यक्ति की बहुआयामिता के कारण अलग से पहचानी जा सकती हैं। इनमें स्त्री की नियति और संघर्ष के साथ मुक्ति की अभिव्यक्ति जितनी प्रखर है, उतनी ही प्रखरता स्त्रियों पर अत्याचार के विरुद्ध प्रतिरोध में भी है। ''मैं चाहती हूँ किसी स्त्री को निर्वस्त्र किये जाने से पहले ही/ निर्वस्त्र हो जाय/न्याय, धर्म, मनुष्यता, ईश्वर और सभ्यता।'' सत्ता से सहमति को देशप्रेम मानकर हर तरह के अन्याय को सहते रहने की मानसिकता पर भी उनका क्षोभ देखने लायक है।

उनकी कविताओं का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष प्रेम का है जिसमें हम आज लिखी जा रही कविताओं से भिन्न और उदात्त प्रेम देख पाते हैं। प्रेम यहाँ वत्सल भाव का द्योतक है जो पवित्रतम है। उनकी अधिकतर कविताओं में व्यक्त संवेदना पाठक के भीतर करुणा का संचार करने में समर्थ होती है। ये कविताएँ अनुभूति के कथ्य में रूपान्तरण से बनी हैं इसलिए इनमें वक्तव्य नहीं, सघन आत्मपरकता है और समय के साथ उसके आघात को सहने और महसूस करने की वेदना भी। समकालीन कविता में यह गुण विरल ही है और इस स्तर पर शालू की कविताओं में बड़ी सम्भावनाएँ दिखती हैं।

—ज्योतिष जोशी

सन्देहों से घिरी पृथ्वी पर

सन्देहों से घिरी पृथ्वी पर
प्रेम से पवित्र कुछ भी नहीं
आँसुओं से सिंचित कर
प्रेम को हरा रखने वाले प्रेमियों से सुन्दर
कुछ भी नहीं
प्रेमियों के मिलने से ही होती है बारिश
चहकती है चिड़िया, गाते हैं भँवरे
प्रेमियों के तड़पने से ही खिलते हैं पुष्प

अप्रेम से भरी दुनिया में
खिला सकें यदि थोड़े-से फूल
बिखेर सकें थोड़े से पराग
बचा सकें यदि आँखों के पानी तो
बचेगी पृथ्वी पर रहने की गुंजाइश
प्रेमियों की साँसों से सुगन्धित रहे जीवन
प्रेमियों के जगने से उकताकर यह धरती
बोने लगे प्रेम के बीज
मैं ऐसे प्रेम के कस्बे में रहती हूँ
जहाँ घृणा का प्रवेश वर्जित है।

पूछती हूँ कोई है?

कितना कठिन है जीना
इस अभिशप्त समय में
सोचकर दहल जाता है सीना
आँखें हो जाती हैं लहूलुहान
खो जाती है आवाज यकायक
जैसे होऊँ ज्वालामुखी के मुँह पर
जबरन बिठा दी गयी
स्त्री हूँ इसलिए हूँ सिर्फ आकांक्षा
और भूख और लालच
देह खेलने और रौंदने के सिवा नहीं रखती
अपना अस्तित्व
और आत्मा है जुगुप्सा से
कलुषित होने के लिए मात्र
ऐसे समय में जब
हर तरफ गिद्ध दृष्टियाँ घात लगाये बैठी रहती हैं
घर से बाहर और दफ्तर से बाजार तक
केवल खा जाने को आतुर नराधम भीड़
क्रूरता से घूरती है
हमें लगता है किन-किन सन्तापों से पीछा छुड़ाएँ
किन-किन वध-स्थलों से भागकर जान बचाएँ
पूजिता स्त्री के देश में
हवश की भेंट चढ़ने को

जो तैयार नहीं
देखते हम उसका हश्र
कोलकाता, उन्नाव, लखनऊ
पटना, जम्मू, बड़ौदा
कितने नाम लें
कितनों की पढ़ें मर्सिया
अब तो यही कहते हैं अपने आप से
बचे रह गये हम तो लाखों पा गये
पर रोज-रोज मरती स्त्रियों के साथ
मरते हम भी थोड़ा-थोड़ा
लानत भेजते अपने समाज पर
काश, बना पाते हम ऐसा देश
जहाँ जीना दूभर न होता
इसी सम्भावना पर उम्मीद का दीया जलता है
मगर कब तक
यह न आपको पता है न मुझे
स्त्री शर्म बेचकर जिये भी तो कब तक
कोई है जो जवाब दे? कोई है?
पूछती हूँ कोई है??

अन्तिम इच्छा

मृत्यु के समय यदि पूछी गयी
अन्तिम इच्छा तो
बनना चाहूँगी मैं
वह शाश्वत सुगन्ध
फैलती रहे जो श्मशानों में

एक काली रात, जहाँ स्त्रियों ने फुटपाथ पर
लिखी हो अपनी आजादी

हवा में घुला एक चुम्बन
भेजा हो जिसे किसी प्रेमी ने
जो बार-बार आमन्त्रित कर सके जीवन को

किसी गूँगे की निश्चल प्रार्थना का स्वर
जो संसार को बना सके दयार्द्र
कोई ताजा ऐलान जो फरमाया हो मंसूर ने
'ओ हैनरी' का वह आखिरी पत्ता
बसते हों जिसमें प्राण किसी के
एक प्यार भरी थपकी मातृविहीन शिशु के लिए
जिसके लिए कहीं कुछ भी
शेष नहीं
उष्ण आलिंगन सब तरफ से ठुकराये
युवक के लिए
जिसकी नियति हताशा बन चुकी हो
प्रेमियों के आँसू
जिसे पीता है ईश्वर
या फिर वह खोयी हुई पंक्ति
जिसके बिना कविता कभी पूर्ण नहीं होती...

कुछ-कुछ रोज

उदास शामें कुछ कहे बिना
खो जा रहीं रात की गुफा में
दिन पसीजे हुए बर्फ की तरह
झरते जा रहे लगातार
सूरज पर धुन्ध की मोटी चादर बिछी है
कई दिनों से
दिल बैठता जाता बार-बार
किसी गहरे अवसाद से
ऐसे में जाने तुम कहाँ हो
आवाज तुम तक पहुँचती नहीं
वह लौट-लौट आती है बार-बार
ऐसे में करते हुए चीत्कार
प्रतीक्षा के कठिन क्षणों को गिनते
थक रही आँखें झरती हैं
उम्मीद के दीये की लौ तेज करते
जब देखते हैं अपना चेहरा
तुम आते हो नजर खिलखिलाते
ऐसे में प्रतीक्षा होती जाती तीव्रतर
उदास शाम की तरह होते उदास
हम कहाँ खो जाएँ
किस गुफा गह्वर में
सोचते हुए बीत जा रहे
हम भी कुछ-कुछ रोज इसी तरह...

ऐसी मयस्सर जिन्दगी

हमने बनाये अपने आसमान
अपनी धरती लोग अपने
सब तरफ से चाक-चौबन्द कर
कोशिश की
चीखें आएँ चाहें जितनी
सिसकियाँ हों बेशुमार
नहीं खोलने अपने-अपने दरवाजे
कितना कुछ जब्त कर पनाह देना
चाहा खुशियों को
हर मजलूम आवाज को
अनसुना करने की ठानी जिद
देश की सुरक्षित जगहों पर
होते रहे अपराध फिर भी
चारों ओर फैली रही
धृतराष्ट्र-सी चुप्पी
दुःख की बात यह रही कि
चुप्पी को तोड़ने के लिए
हम, हमारा पड़ोस,
पड़ोस के पड़ोस में से कोई आगे न बढ़ा
शर्म की बात यह रही कि
इस बात की कहीं निन्दा तक न हुई
हम सत्ता से सहमति को
समझते रहे देशप्रेम
सत्ता करती रही हमारी सराहना
सराहना में बहते हुए हम
अपने जन से इतनी दूर आ गये
जहाँ तन्त्र तो था, किन्तु जन नहीं थे।

उदासी

उदासी एक खूबसूरत चुम्बक है,
जो अनायास ही खींच लेती है–
अपनी ओर,
तुमसे मिलने के बाद जाना
यह भी जाना कि बोलने वाले से कहीं ज्यादा
श्रेष्ठ होता है सुनने वाला,
सुनने में वह सलाहियत है कि
बोलना भी सिखा देती है
आपके साथ होनी चाहिए एक जोड़ी आँखें
जो सुन सकती हों आपकी चुप्पी,
एक कन्धा जिस पर सर रखकर हुआ
जा सके निढाल
उदासी कितनी मुखर होती है
वही जान सकता है जिसके पास हो
सुनने की कला
सुनने की कला से ही सुन सकते हैं
तमाम नदियों, झरनों, पहाड़ों, और पेड़ों को
लेकिन किसी को सुनने के लिए,
उसके बहुत करीब जाना पड़ता है
उसके जैसा बनना पड़ता है।

■

विशेष लेख

हमारा संविधानः लोकतान्त्रिक राष्ट्रनिर्माण की आधारशिला

आनन्द कुमार

मूलतः मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जो 'अपनत्व' के आधार पर अपना जीवन-निर्वाह करता है। लेकिन सामाजिकता स्वतः स्फूर्त प्रवृत्ति नहीं होती। इसके लिए हर शिशु को वयस्क होने तक सामाजीकरण की प्रक्रिया से गुजरना होता है। फिर भी सभी स्त्री-पुरुषों का एक जैसा सामाजीकरण नहीं होता है। सामाजिकता के घनत्व के संवर्धन के बिना समाज में एकजुटता नहीं पैदा होती। अपर्याप्त सामाजीकरण से समाज में सहयोग, एकता और परस्पर-पूरकता की बजाय तनाव, बिखराव और असुरक्षा के साथ जीने की विवशता रहती है।

लेखक प्रसिद्ध समाजशास्त्री तथा जवाहरलाल नेहरू स्मृति संग्रहालय और पुस्तकालय, नयी दिल्ली में वरिष्ठ शोधकर्ता हैं।
+919650944604
anandkumar1@hotmail.com

हर स्त्री-पुरुष, अपनी निजता (वैयक्तिकता) के बावजूद जन्म से लेकर मृत्यु तक सामाजिक व्यवस्था पर आश्रित है। इस अपनत्व का परिणाम 'हम' की भावना होती है। इसका न्याय, मैत्री, सामंजस्य और प्रेम से पोषण होता है। अपनत्व का विलोम 'अन्यता' है। अपनों और अन्यों (गैरों) के बीच बड़ा अन्तर होता है। अपनों में सहज एकता होती है। जबकि 'अन्यता' के सन्दर्भ में अनिश्चितता होती है। 'अन्यता' के बारे में समाज में तीन प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं–1. भय और आक्रामकता, 2. उपेक्षा और उदासीनता, और 3. समेटने और एकीकरण की कोशिश। इस प्रकार 'अपनत्व' का विस्तार और 'अन्यता' में कमी हर समाज की दुहरी आवश्यकता होती है। 'संविधान' इसी दुहरी जरूरत को पूरा करने का माध्यम होता है।

'हम' और 'हमारी' की भावना का प्राथमिक संरक्षण परिवार की संस्था और शिक्षा-व्यवस्था द्वारा होता है। इसका सर्वोच्च निरूपण राज्यसत्ता द्वारा परिभाषित 'राष्ट्र' और प्रदत्त 'नागरिकता' के रूप में किया जाता है। नागरिकता और राष्ट्रीयता मिलकर 'अपनों' का राष्ट्र (देश या मुल्क) बनाते हैं। इसमें भाषा, जाति-धर्म, जीवन-शैली, इतिहास, आर्थिक प्रक्रिया, शिक्षा, भौगोलिक क्षेत्र, युद्ध, प्रवासियों और मीडिया का योगदान होता है। दूसरी तरफ, इन्हीं आधारों पर 'अन्यता' और बिखराव को विस्तार मिल सकता है और किसी समाज का राष्ट्र के रूप में विकसित होना सुनिश्चित नहीं है। इसके लिए विधिसम्मत एकता-प्रक्रिया की जरूरत होती है। संविधान निर्माण इस प्रक्रिया का पहला चरण होता है। बिना सुविचारित संविधान के राष्ट्र-निर्माण नहीं किया जा सकता। लेकिन राष्ट्र-निर्माण के लिए लोकतन्त्र की अनिवार्यता नहीं होती। अलोकतान्त्रिक तरीकों से भी राष्ट्र-निर्माण करने के उदाहरण हैं।

❖

सामाजिकता को क्रमशः 1. विवाह, 2. ममत्व (मातृत्व-पितृत्व), 3. पारिवारिकता, 4. नातेदारी, 5. सामुदायिकता, 6. जातियता और साम्प्रदायिकता, 7. क्षेत्रीयता, 8. राष्ट्रीयता, 9. नागरिकता और 10. वैश्विकता के जरिये उत्पन्न और संरक्षित किया जाता है। इनके अन्तर्विरोधों को समझा और सुलझाया जाता है। इस सन्दर्भ में लोकतान्त्रिक राष्ट्र-निर्माण की बहुत महत्ता है क्योंकि यह एक समावेशी राजनीतिक प्रक्रिया है और स्वतन्त्रता, संविधान, नागरिकता, राष्ट्रीयता और लोकतन्त्र इस प्रक्रिया के पाँच आधार होते हैं।

वैसे मानव-समाज की उत्पत्ति के कई कारण माने जाते हैं। इसके एक छोर पर इसे ईश्वर की रचना बताया गया है और दूसरे छोर पर मनुष्यों के बीच परस्पर अस्तित्व के लिए एक नियमावली (संविधान) पर आधारित सहमति का सिद्धान्त (सामाजिक समझौते का सिद्धान्त) है। समाज के उद्भव के धार्मिक विमर्श में प्रतिपादित मान्यताओं और प्राचीन इतिहास-पुराण-पुरातात्त्विक अवशेषों के आधार पर हर देश की अपनी सर्वश्रेष्ठता पर आधारित एक लोकस्मृति और आस्था है। इसकी प्रामाणिकता स्वयंसिद्ध होती है। इस आधार पर अपने देश को 'सबसे अच्छा', स्वर्ग के जैसा और 'प्राणों से भी प्यारा' मानने और बताने का चलन है।

हर समाज में सुविधा-प्राप्त और वंचित समुदायों की अलग-अलग दुनिया होती है। सुविधा-सम्पन्न लोगों द्वारा 'अपने' देश-समाज के आन्तरिक दोषों जैसे गैर-बराबरी, शोषण और अन्याय की अनदेखी की जाती है। यथास्थिति को बनाये रखने पर जोर रहता है। यह दृष्टि पितृ-सत्ता, जाति-प्रथा, धार्मिक साम्प्रदायिकता, 'राष्ट्रवाद', साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, राष्ट्रवादी हिंसा और अन्तरराष्ट्रीय युद्धों की बुनियाद सिद्ध हुई है। इस विचारधारा से हर समाज में सत्ताधीशों के वर्चस्व और प्रभुवर्गों के हितों का संवर्धन होता है। असमानता के शिकार और अन्याय-

पीड़ित सदस्यों द्वारा न्याय की बढ़ोत्तरी के लिए परिवर्तन के सपने और प्रयासों को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है।

फिर भी भारत समेत अनेकों संस्कृतियों में राष्ट्रीयता और मानवता को एक-दूसरे पर निर्भर माना गया है–मानवता-उन्मुख राष्ट्रीयता और राष्ट्रीयता-आधारित मानवता। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और 'सर्वे भवन्तु सुखिन...' की कामना की गयी है और 'दूसरों को पीड़ित करने' और अपने-पराये पर जोर देने को निकृष्टता बताया गया है। इसके चार उदाहरण ध्यान में रखने लायक हैं–

1. **अयं निजः** परोवेति गणना लघुचेतसाम, उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्। (महोपनिषद्, अध्याय 4, श्लोक 71)
2. **सर्वेभवन्तु सुखिनः** सर्वेसन्तु निरामया सर्वेभद्राणी पश्यन्तु मा कश्चिद दुःखभाग्भवेत। (तैत्तिरीय उपनिषद्)
3. 'अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयं, परोपकाराय पुण्याय, पापाय परपीडनम्।'
4. परहित सरिस धरम नहीं भाई, परपीड़ा सम नहीं अधमाई। (श्रीरामचरितमानस; उत्तरकाण्ड, दोहा 41, प्रथम चौपाई)।

❖

समाज-रचना के दूसरे छोर पर, मनुष्यों के बीच शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के प्रश्न की केन्द्रीयता को पहचानते हुए 'सामाजिक समझौता सिद्धान्त' का विमर्श विकसित हुआ है। इस विमर्श में राज्य-निर्माण, बाजारीकरण और समुदाय के अन्तःसम्बोधित त्रिकोण के दायरे में राष्ट्र और राष्ट्रीयता के उदय का अध्ययन किया जाता है। यह सामाजिक परिवर्तन से जुड़ा घटनाक्रम माना जाता है। राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद के विकास में यूरोप का शुरुआती महत्त्व होने के बावजूद विभिन्न महाद्वीपों की अलग-अलग कहानी है।

राष्ट्रीयता के यूरोपीय संस्करण में कम-से-कम पाँच कारकों का योगदान था–1. जर्मन रियासतों में समझौते (1648 का वेस्टफेलिया समझौता), 2. विचारक रूसो (1712-1778) की कालजयी रचना 'सामाजिक समझौता (सोशल कॉट्रैक्ट (1762)' और जॉन स्टूअर्ट मिल (1806-1873) की 'स्वतन्त्रता के बारे में' (ऑन लिबर्टी (1859) के सिद्धान्त, 3. फ्रांस की असफल क्रान्ति (1789-99) और नेपोलियन बोनापार्ट (1769-1821) की सत्ता-व्यवस्था और विस्तारवादी युद्धों, 4. इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति और 5. विफल जर्मन क्रान्ति (1848)। इसे विश्व-व्यवस्था में 'राष्ट्र', 'राष्ट्रीयता' और 'राष्ट्र-निर्माण' की अवधारणाओं, प्रक्रियाओं और समस्याओं का आरम्भ-काल माना जा सकता है। आज तक इस दौर के बारे में समाज-वैज्ञानिकों, विशेषकर इतिहासकारों में, हेगेल (1770-1831) और कार्ल मार्क्स (1818-1883) के सिद्धान्तों की छाँह में लगातार विवाद जारी है। रेनान (1823-1892) से शुरू चर्चा में रवीन्द्रनाथ टैगोर (नेशनलिज्म, 1950), माइकेल हेक्टर (इण्टरनल कोलोनिअलिज्म, 1974), बेनेडिक्ट एण्डरसन (इमैजिंड कम्युनिटीज, 1983), अर्नेस्ट गेल्नर (नेशन्स एण्ड नेशनलिज्म, 1983), और एरिक हाब्सबाम (नेशन्स एण्ड नेशनलिज्म सिन्स 1780, 1992) के योगदान का स्थायी महत्त्व है। इधर समकालीन यूरोप में राष्ट्रीयता की भूमिका और राष्ट्र-निर्माण की आवश्यकता में कमी आयी है। 'यूरोपीय महासंघ' के रूप में क्षेत्रीयता की प्रक्रिया की गति बढ़ी है। 1992 से फैल रहे वैश्वीकरण ने भी राष्ट्र और राष्ट्रीयता के महत्त्व को घटाया है। वैसे चेकोस्लोवाकिया के विघटन से 2 (चेक रिपब्लिक और स्लोवाकिया) युगोस्लाविया के विघटन से 5 (क्रोएशिया, स्लोवानिया, बोस्निया, हजेर्गोविना और मोंटनेग्रो) और सोवियत संघ के विघटन से 15 (आर्मेनिया, अजरबैजान, बेलारूस, एस्टोनिया, जार्जिया, कजाकस्तान, किर्गिजिस्तान, लाटविया, लिथुआनिया, माल्डोवा, रूस, तजाकिस्तान, तुर्कमेनिस्तान, और उज्बेकिस्तान) नये राष्ट्रों का उदय महत्त्वपूर्ण घटना मानी जाती है। लेकिन सोवियत संघ के गर्भ से उत्पन्न देशों ने एक महासंघ (फेडरेशन ऑफ इण्डिपेंडेंट स्टेट्स) के रूप में क्षेत्रीयकरण की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है।

इसी के समान्तर उत्तरी अमेरिका में 1776 में ब्रिटेन के 13 उपनिवेशों द्वारा अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा के साथ 'संयुक्त राज्य अमरिका' की स्थापना ने राष्ट्रीयता और राष्ट्र-निर्माण के एक अलग विमर्श को जनम दिया। अमरीकी घटनाक्रम में स्वतन्त्रता, नागरिकता और अन्तरराष्ट्रीय राजनीति की खुली भूमिका थी। इसमें थॉमस जेफरसन (1743-1826) का उल्लेखनीय वैचारिक योगदान था। जेफरसन 'स्वतन्त्रता की घोषणा' के मुख्य लेखक थे और अमरीका के तीसरे राष्ट्रपति (1801-1809) बने। 'संयुक्त राज्य अमरीका' के रूप में राष्ट्रीयता और राष्ट्र-निर्माण के एक अलग उदाहरण का इस बारे में समाज-वैज्ञानिक विश्लेषण रेनहार्ड बेन्दिक्स (1965) ने 'नेशनबिल्डिंग एण्ड सिटिजनशिप' (न्यूयार्क, जॉन वायली एण्ड सन्स) में मैक्स वेबर और अलेक्स द टोकविल के सिद्धान्तों की मदद से प्रभावशाली तरीके से प्रस्तुत किया है। लेकिन उत्तरी अमरीका में भी संयुक्त राज्य अमरीका, मैक्सिको और कनाडा के बीच 2018 में हुए 'उत्तरी अमरीका मुक्त व्यापार क्षेत्र करार' (NAFTA) के कारण राष्ट्रीयता की तुलना में महाद्वीपीय क्षेत्रीयता का दबाव ज्यादा है।

राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया के विस्तार में एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमरीका के उपनिवेशवाद-विरोधी आन्दोलनों और नव-स्वाधीन राष्ट्रों के प्रयोगों का विशिष्ट योगदान है। अगर 'राष्ट्र' और 'राष्ट्रीयता' की रचना में यूरोप के नवोदित राष्ट्रों ने 'मनुष्यों के मौलिक अधिकार' ('मैग्नाकार्टा') और 'नियम और विधान आधारित राज्य' ('आधुनिक राज्य') को जोड़ा और संयुक्त राज्य अमरीका के प्रयोग से स्वतन्त्रता की अनिवार्यता को महत्त्व मिला तो एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमरिका में विकसित राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों ने 'नागरिकता' और 'राष्ट्रीयता' के साथ उपनिवेशवाद का निर्मूलन ('डीकोलोनाइजेशन'), लोकतान्त्रिकरण और विकास को जोड़ा। स्वराज के तीन आयाम स्पष्ट हुए–राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक। साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रीय आन्दोलनों की शुरुआत 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुई। प्रथम विश्वयुद्ध और द्वितीय विश्वयुद्ध के बीच इनके जन आधार का विस्तार हुआ और इसमें भारत ने दुनिया के गुलाम देशों की अगुवाई की।

❖

समकालीन समाज-वैज्ञानिक अध्ययन में राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया को एक सामाजिक-

राजनीतिक प्रक्रिया माना गया है। लेकिन समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र की तुलना में राजनीतिशास्त्र और इतिहास में विशेष महत्त्व दिया गया है और 'राष्ट्र' और 'राष्ट्रीयता' का विमर्श जर्मनी में 1648 में सम्पन्न 'वेस्टफेलिया सन्धि' से शुरू माना जाता है। इसी सन्धि से अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों के सिद्धान्त-निर्माण में 'देशों के अधिकार क्षेत्र' और 'सम्प्रभुता' की अवधारणा को मान्यता की शुरुआत मानी जाती है। इस समझौते में डच रिपब्लिक, स्पेन, फ्रांस, स्वीडेन और 'होली रोमन एम्पायर' की मुख्य भूमिका थी। इस सन्धि में यूरोप की 16 सरकारों, 66 सत्ता समूह और 27 हित-समूह के प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया था। इस समझौते के बाद कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट वर्चस्ववाले देशों के बीच का 30 साल लम्बा युद्ध समाप्त हुआ जिसमें तब तक 85 लाख सैनिक और 1 करोड़ जन-साधारण मारे जा चुके थे।

बीसवीं शताब्दी में प्रथम विश्वयुद्ध (1914-18) के अन्त में 'लीग ऑफ नेशन्स' की स्थापना करके अन्तरराष्ट्रीय शान्ति को आधार देने की कोशिश की गयी। इसमें 58 देशों की सदस्यता थी। यह प्रयास दो दशकों के बाद असफल साबित हुआ और 1939 से 1945 तक दुनिया-भर में राष्ट्रवाद की आड़ में द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका का सच सामने आया। इस युद्ध में यूरोपीय देशों और एशिया की महाशक्ति जापान और उनके उपनिवेशों के 8 करोड़ सैनिक और नागरिक मारे गये। राष्ट्रवाद और अन्तरराष्ट्रीयता की समस्याओं से विश्वशान्ति को सुरक्षित रखने के लिए फिर दुनिया के 51 देशों ने समझौता करके 1945 के अन्त में 'संयुक्त राष्ट्र संघ' की स्थापना की। फिलहाल इसके 193 देश सदस्य हैं और विश्व-भर में मानव अधिकार संरक्षण और अन्तरराष्ट्रीय शान्ति के संवर्धन की दिशा में बहुमुखी सक्रियता का एकमात्र वैश्विक मंच है।

राष्ट्रीयता का समकालीन दर्शन राष्ट्र-निर्माण की अनिवार्यता और 'अस्मिता' और 'एकता' की परस्पर निर्भरता को एक साथ स्वीकारता है। इसको 'नागरिकता' के जरिये संरक्षित अधिकारों और कर्तव्यों के रूप में संवैधानिक मान्यता भी दी गयी है। लेकिन आधुनिक विश्व-व्यवस्था में चल रहे वैश्वीकरण के अन्तर्गत कारपोरेट शक्तियों की प्रधानता के कारण अधिकांश नव-स्वाधीन देशों में जीवन-दशा में सुधार, लोकतान्त्रीकरण और निर्धनता निवारण की प्रक्रियाएँ कमजोर हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुसार 2023-24 में भी पूरे विश्व में 110 करोड़ स्त्री-पुरुष निर्धनता की गिरफ्त में थे। भारत में भी सरकार की तरफ से 80 करोड़ लोगों को मुफ्त खाद्यान्न दिया जाता है और यह योजना 2029 तक के लिए बढ़ा दी गयी है। दुनिया की 71% जनसंख्या निरंकुश शासन-व्यवस्था में जी रही है। भारत समेत 42 देशों में जनतन्त्र संकट में है। इनमें अधिकांश राष्ट्र पूर्वी यूरोप, दक्षिण और पूर्वी एशिया और दक्षिण अमेरिका में हैं। कई देश राष्ट्र-निर्माण के प्रयास में अलगाववाद, सामाजिक हिंसा, एकदलीय शासन और फौजी हुकूमत से भी जूझ रहे हैं। 2023 में अफ्रीका में 29, एशिया में 17, मध्य-पूर्व क्षेत्र में 10, यूरोप में 3 और दक्षिण अमेरिका में 1 राष्ट्र में सामाजिक-राजनीतिक बिखराव और हिंसक संघर्षों की घटनाएँ दर्ज की गयी हैं।

❖

अब भारत की राष्ट्र-निर्माण कथा को देखा जाये। भारत में स्वतन्त्रता के लिए 1857 से 1947 के बीच अनवरत प्रयास हुए। इस प्रक्रिया में भारत के बहुसांस्कृतिक, बहुभाषी और बहुजातीय होने के सच को पहचाना गया और 'अनेकता में एकता' के सिद्धान्त की जरूरत को महत्त्व दिया गया। जाति की विविधता को 1931 से 1949 के बीच 'वंचितों' को शिक्षा, विधानमण्डलों और प्रशासन में 'आरक्षण' को कानूनी आधार देते हुए राष्ट्र-निर्माण से जोड़ा गया। इससे दलितों, आदिवासियों और 'अन्य पिछड़ा वर्ग' के रूप में अलगाव और अन्यता के शिकार स्त्री-पुरुषों को अपनत्व, राजनीतिक समानता और राष्ट्र-निर्माण में हिस्सेदारी का आश्वासन मिला। भाषाई विविधता को संघीयता ('फेडरलिज्म') और भाषाई अल्पसंख्यकों के संरक्षण की नीति को संविधान का अंग बनाकर भारतीय राष्ट्रीयता को सुदृढ़ किया गया। ब्रिटिश-राज और सैकड़ों देशी रियासतों की अनेकों प्रकार की लोकतन्त्र-विरोधी सत्ता व्यवस्थाओं को अस्वीकारते हुए स्त्री-पुरुषों को समान मानते हुए राजनीतिक समता और वयस्क मताधिकार आधारित संसदीय लोकतन्त्र का वरण किया गया।

साम्प्रदायिक अलगाववाद को धर्मनिरपेक्षता के आदर्श से सुलझाने की कोशिश भी आंशिक रूप से सफल हुई। दो-राष्ट्र के सिद्धान्त से पैदा 'पाकिस्तान' के रूप में पूर्वी और उत्तर-पश्चिम के मुस्लिम-बहुल क्षेत्रों का अलगाव और डेढ़ करोड़ हिन्दुओं, मुसलमानों और सिखों आदि का बर्बर विस्थापन नहीं रोका जा सका। लेकिन अधिकांश अल्पसंख्यक लोग धार्मिक विविधता के लिए प्रतिबद्ध 'भारत' में बने रहे। संविधान सभा ने 'नीति-निर्देशक तत्त्वों' को सूचीबद्ध करके 'लोक-कल्याण के लिए प्रतिबद्ध राज्य' की स्थापना की दिशा में पहल की गयी। पंचवर्षीय आम-चुनाव और पंचवर्षीय योजनाओं की प्रक्रिया ने इस नयी दिशा की तरफ बढ़ने में मदद की।

इसमें हमारे संविधान की स्पष्ट उद्देशिका और परिवर्तन प्रगतिशील संशोधनों से भरपूर सहारा मिला है। बहुआयामी न्याय, पंचमुखी स्वतन्त्रता, समता और बन्धुता को भारतीय राष्ट्रीयता का सैद्धान्तिक आधार घोषित करते हुए 12 अनुसूचियों, 25 भागों और 448 अनुच्छेदों वाले हमारे संविधान ने समाज को एक 'मौन क्रान्ति' की तरफ अग्रसर किया। 1976 में 42 वें संशोधन के जरिये समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता और देश की अखण्डता को इस उद्देशिका में जोड़कर लोकतन्त्र रचना की दिशा को स्पष्टता प्रदान की गयी है। 73वें और 74वें संशोधन (1992) और पंचायत विस्तार अधिनियम (1996) से सत्ता के पंचायत और नगर पालिका स्तर तक विकेन्द्रित करने की आवश्यकता को स्वीकारा गया है। सूचना का अधिकार अधिनियम (2005), शिक्षा का अधिकार अधिनियम (2009), और खाद्यान्न सुरक्षा अधिनियम (2011) ने स्वराज रचना को लोकहितकारी बनाने के लक्ष्य की ओर मजबूत कदम बढ़ाये हैं। कुल मिलाकर, भारतीय संविधान में पिछले 75 बरसों में 106 संशोधन हो चुके हैं। इसकी समीक्षा के लिए श्रीमती इन्दिरा गाँधी के द्वितीय कार्यकाल (1971-77; स्वर्ण सिंह समिति) और श्री अटलबिहारी वाजपेयी के कार्यकाल (2000-2004; न्यायमूर्ति व्यंकटचेलैया

समिति)) में उच्चस्तरीय समीक्षाएँ भी की गयीं। वैसे इमरजेंसी राज (26 जून, 1975 से 23 मार्च, 1977) में इस निराशाजनक सच से भी साक्षात्कार हो चुका है कि बिना स्वस्थ जनतन्त्र के संविधान की भूमिका पर ग्रहण लग जाता है। बिना नागरिक निगरानी के संविधान से सत्ताधीशों की छेड़खानी की प्रवृत्ति निरंकुश हो जाती है और कार्यपालिका और मीडिया दुर्योधन राज के दृष्टिहीन धृतराष्ट्र और मौन भीष्म पितामह जैसे बन सकते हैं।

❖

स्वराज के 75 वर्षों की समीक्षा में हमें अपनी सफलताओं और विफलताओं का पूरा लेखा-जोखा करना जरूरी है। लेकिन इसके लिए यह याद रखना भी जरूरी है कि ब्रिटिश राज की दो शताब्दियों की गुलामी से आजाद हुए भारत को विरासत में 1947 में क्या मिला था? चीन और जापान या इंग्लैण्ड और अमेरिका से तुलना करने की बजाय 1947 और 2024 के भारत की तुलना करना ज्यादा उचित होगा। उदाहरण के लिए, 1947 में हमारी कुल आबादी 35 करोड़ थी जिसमें 80 प्रतिशत से ज्यादा निर्धनता और निरक्षरता से पीड़ित थे। भारतीय स्त्री-पुरुषों की औसत आयु 34 बरस और शिशु मृत्यु-दर 146 प्रति 1000 थी। हमें अँग्रेजों से आजादी देश-विभाजन के साथ हासिल हुई थी जिसमें 10 लाख निरपराध लोग साम्प्रदायिक हिंसा में मारे गये और लगभग डेढ़ करोड़ लोग शरणार्थी बनकर पाकिस्तान से भारत और भारत से पाकिस्तान जाने को विवश हुए थे। 1947-51 की जनसंख्या में से 6-7 करोड़ शहरी आबादी थी और 60% भारतीय अपनी आजीविका के लिए कृषि पर निर्भर थे। जब अँग्रेजी राज का आरम्भ हुआ तो 1757 में भारत का विश्व अर्थ-व्यवस्था में 23% योगदान था। दो शताब्दी की विदेशी लूट और अवरुद्ध विकास के कारण 1947 में भारत का योगदान घटकर मात्र 3% रह गया था। कुल 30 मेडिकल कॉलेज, 204 अस्पताल और 59,000 डॉक्टर थे। शिक्षा के क्षेत्र में 1.40 लाख प्राथमिक विद्यालय, 12,653 मिडिल और हाई स्कूल, 414 कॉलेज और 19 विश्वविद्यालय थे।

इसीलिए स्वाधीनोत्तर भारत के लिए संविधान प्रस्तुत करते समय 26 नवम्बर, 1949 को संविधान सभा के अपने अन्तिम भाषण में डॉ. अम्बेडकर ने राजनीतिक समानता को एक ऐतिहासिक उपलब्धि और आर्थिक विषमता और सामाजिक गैर-बराबरी को दो प्रमुख समस्याओं के रूप में चिह्नित किया था। इससे पहले 1946 में गाँधी जी 29 जुलाई, 1946 को जारी 'राष्ट्र-निर्माण' के लिए रचनात्मक कार्यक्रम की 18-सूत्रीय रूपरेखा में कौमी एकता, अस्पृश्यता निवारण, नर-नारी समता, शराबबन्दी, कृषि और पशुपालन में सुधार, खादी और ग्रामोद्योग, नयी तालीम और निरक्षरता निवारण, आरोग्य शिक्षा और स्वच्छता, देशी भाषाओं का संवर्धन प्राथमिकता के प्रश्न थे। गाँधी जी ने याद दिलाया कि 'रचनात्मक कार्यक्रम ही पूर्ण स्वराज को हासिल करने का सच्चा और अहिंसक रास्ता है।' जवाहरलाल नेहरू ने भारत छोड़ो आन्दोलन के कारावास के दौरान 1942-45 के बीच लिखी किताब 'भारत की खोज' में 'विविधता में एकता' को भारतीय सभ्यता की मूल प्रवृत्ति मानते हुए धर्मों, भाषाओं और संस्कृति के सन्दर्भ में बहुलता को पहचानने और नागरिकता-आधारित राष्ट्रीयता की दिशा अपनाने को युगधर्म माना था। समाजवादियों ने वयस्क मताधिकार के आधार पर संविधान सभा का चुनाव न होने से इससे अपने को अलग रखा और 1948 में एक समानान्तर दस्तावेज जारी करके भारत को एक लोकतान्त्रिक समाजवादी और धर्मनिरपेक्ष लोकतन्त्र बनाने पर जोर दिया। बड़े उद्योगों को राज्य के मातहत रखने और कृषि में किसान को भू-स्वामी बनाने और सहकारी खेती को बढ़ावा देने का सुझाव दिया। डॉ. अम्बेडकर ने 'यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ इण्डिया' का एक संविधान ड्राफ्ट जारी किया जिसमें आर्थिक नवनिर्माण में राज्य की मुख्य भूमिका और स्त्रियों के सशक्तीकरण को बढ़ाने वाले सुझाव थे। इस समूचे विमर्श के परिणामस्वरूप निर्धनता, निरक्षरता, साम्प्रदायिकता, छुआछूत, अस्वच्छता, महिलाओं के साथ भेद-भाव और आर्थिक नवनिर्माण को प्राथमिकता मिली।

तब से अब तक हम कहाँ तक पहुँचे हैं? 2023 में जहाँ जनसंख्या बढ़कर 140 करोड़ हो गयी वहीं निर्धनताग्रस्त आबादी 21.7% और निरक्षरता घटकर 23% (पुरुष 16%, महिला 30%) (2017-18) रह गयी। शिक्षा के क्षेत्र में 15 लाख प्राथमिक व माध्यमिक विद्यालय और हाईस्कूल, 50,000 कॉलेज और 900 से अधिक विश्वविद्यालय स्थापित हो चुके हैं। स्वास्थ्य की देखरेख के लिए 23,000 अस्पताल, 541 मेडिकल कॉलेज, 12,89,000 से अधिक डॉक्टर कार्यरत हैं। इससे अनुमानित जीवन-अवधि औसतन बढ़कर 72 वर्ष और शिशु मृत्यु-दर घटकर 32 प्रति 1000 हो चुकी है (इन आँकड़ों में गाँव और शहर के फासले, प्रादेशिक फर्क और जाति और धर्म की दृष्टि से सामाजिक समूहों के बीच का अन्तर नहीं स्पष्ट है। ग्रामीण भारत, विशेषकर ओड़िशा और हिन्दी भाषी प्रदेशों और दलितों-आदिवासियों-विमुक्त जातियों - जनजातियों - पसमान्दा मुसलमानों के बारे में आँकड़े सन्तोषजनक नहीं हैं।) विश्व अर्थव्यवस्था में व्यापक मन्दी के बावजूद 2023 में भारत का योगदान 7.9 प्रतिशत पाया गया।

फिर भी समग्र मानवीय विकास की दृष्टि से भारत अभी भी 134वीं सीढ़ी पर है। यह आदर्श दशा नहीं है। कम-से-कम सात महादोष सभी देशभक्त भारतीयों के लिए चिन्ता का कारण बने हुए हैं– 1. अवरुद्ध विकास, 2. शासन में विशिष्ट वर्गों के हित में असन्तुलन, 3. चुनाव-व्यवस्था की बढ़ती खराबियाँ, 4. लोकतन्त्र का क्षरण, 5. नागरिकता निर्माण की उपेक्षा, 6. राष्ट्र-निर्माण का संकट, और 7. पर्यावरण संकट। इसमें 1. सत्ताधीशों की गैर-जिम्मेदारी (मणिपुर की दुर्दशा, दिल्ली और झारखण्ड में विरोधी दलों की सरकारों का दमन, और लद्दाख बचाओ आन्दोलन और गाँधी-विनोबा-जेपी विरासत बचाओ सत्याग्रह की उपेक्षा), 2. देश की सम्पत्ति का अत्यन्त सीमित दायरे में संचयन (शिखर के 1 प्रतिशत लोगों के हाथ में 40% सम्पदा का नियन्त्रण और नीचे से 50% भारतीयों के पास मात्र 3% सम्पत्ति), 3. चुनावों में धनशक्ति की सर्वोच्चता ('चुनाव बाण्ड' से सरकारी दल द्वारा 6,000 करोड़ रुपया इकठ्ठा करना और सांसदों में 30 प्रतिशत से अधिक करोड़पति), 4. बढ़ती बेरोजगारी और नागरिकता त्याग (2023 में 8% बेरोजगारी, 80% युवा बेरोजगार और 2 लाख से अधिक

(शेष पृष्ठ 32 पर)

महाराष्ट्र

कागभगोड़ा खा गया खेत

श्रीकान्त आप्टे

मेरी जानकारी में आजादी के बाद से दो-ढाई हजार आबादी के केवल एक शान्तिपूर्ण गाँव में पहली बार तीन दिन का कर्फ्यू मात्र आशंका के चलते लगाया गया। प्रशासन की इस कार्रवाई से सवाल यह उठता है कि शान्तिपूर्ण मॉकपोल से प्रशासन आखिर इतना भयभीत क्यों था? इस सवाल का उत्तर जितना साफ है उतना ही आसान भी। भाजपा के उम्मीदवार को गाँववालों की आशंकानुसार पर्चियों से मॉकपोल में यदि सौ-डेढ़-सौ वोट मिलते तो यह ई.वी.एम. के जरिये चुनाव परिणाम में घपले का पक्का सबूत हो जाता।

लेखक व्यंग्यकार, स्तम्भकार, नाटककार एवं चित्रकार हैं।

+919179990388

shrikant1953@gmail.com

किसान पशु-पक्षियों से फसलों की सुरक्षा के लिए खेत में आदमी की आकृति-सा पुतला बनाकर खड़ा करते हैं। इसे कागभगोड़ा या अँग्रेजी में 'स्केअर क्रो' कहते हैं। लोकतन्त्र के खेत में चुनावों में वोटों की फसल की रक्षा के लिए संविधान ने चुनाव आयोग नाम का कागभगोड़ा जनता को दिया है। अपवाद छोड़ दें तो इस कागभगोड़े के सरकारी इशारों पर नाचने के किस्से पहले भी थे। किन्तु मोदी राज में तो जनता के वोटों की फसल की रक्षा के लिए बना कागभगोड़ा खुद ही मालिक के इशारों पर विपक्ष के वोटों की फसल को चर रहा है। सारे राज्यों की तरह अभी-अभी महाराष्ट्र विधानसभा चुनावों में भी कागभगोड़े ने इस कारनामे का खुलकर प्रदर्शन किया।

शुरुआत महाराष्ट्र के गाँव मारकड़वाड़ी के घटनाक्रम से करते हैं। सम्भव है कि महाराष्ट्र विधानसभा चुनाव परिणाम के बाद वहाँ के घटनाक्रम की जानकारी आपको न हो क्योंकि सरकारी चारण अखबारों और गोदी टीवी चैनलों ने इसे कवर ही नहीं किया। अथवा कुछ अखबारों में आधी-अधूरी जानकारी प्रकाशित हुई।

महाराष्ट्र के सोलापुर जिले की मालशेसर तहसील और विधानसभा क्षेत्र का एक छोटा-सा गाँव है मारकड़वाड़ी। यह 667 परिवारों की लगभग 3200 आबादीवाला गाँव है जिसमें 440 बच्चे 0-6 वर्ष आयु-वर्ग के हैं। ये आँकड़े ध्यान में रखिएगा।

मालशेसर विधानसभा क्षेत्र से एन.सी.पी. (शरद पवार) के उम्मीदवार उत्तमराव जानकर विजयी हुए हैं। जानकर ने भाजपा के उम्मीदवार राम सातपुते को लगभग 13000 वोटों से मात दी। मारकड़वाड़ी गाँव पारम्परिक रूप से जानकर समर्थक है और 2009 से जानकर ही इस क्षेत्र से जीतते आए हैं। ऐसे में मारकड़वाड़ी के लोगों को प्रसन्न होना चाहिए था लेकिन गाँव से जानकर को मिले घोषित मतों से गाँववाले असन्तुष्ट हैं क्योंकि क्षेत्र के रिटर्निंग ऑफिसर के अनुसार जानकर को गाँव में 1103 और भाजपा के निकटतम प्रतिद्वन्द्वी राम सातपुते को 843 वोट मिले। पारम्परिक रूप से जानकर के समर्थक गाँव के मात्र 2000 वोटोंवाले मारकड़वाड़ी के लोग हैरान थे कि जिसे 100-150 से ज्यादा वोट नहीं मिल सकते थे उस सातपुते को 843 वोट कैसे मिल गये। वे जानकर को भरोसा दिलाना चाहते थे कि हमेशा की तरह इस बार भी गाँववालों ने उन्हें भारी समर्थन दिया है। उन्होंने इसके लिए पर्चियों से मॉकपोल का रास्ता चुना। गाँववालों ने इसके लिए रिटर्निंग ऑफिसर को सम्पर्क किया और गाँववालों द्वारा ही इस पर होने वाले व्यय को वहन करने का प्रस्ताव भी दिया। सरकारी अधिकारी ने आदतन, इसके लिए मना कर दिया। अब गाँववालों ने मजबूरन स्वयं मॉकपोल करने

का निर्णय लिया और 3 दिसम्बर की तारीख इसके लिए तय की। गाँव में कोई तनावपूर्ण स्थिति नहीं थी। सारी प्रक्रिया पर्चियों के माध्यम से शान्तिपूर्ण ढंग से हो जानी थी। लेकिन प्रशासन ने गाँव में तनाव और अशान्ति फैलने के नाम पर मारकड़वाड़ी में भारी पुलिस बल तैनात कर 5 दिसम्बर तक कर्फ्यू लगाकर मॉकपोल को रोक दिया। उत्तमराव जानकर सहित 200 के लगभग गाँववालों के खिलाफ एफ.आई.आर. दर्ज कर दी। यह अनावश्यक और सख्त कार्रवाई प्रशासन ने भय फैलाकर अन्य स्थानों पर सम्भावित मॉकपोल रोकने के उद्देश्य से की।

मेरी जानकारी में आजादी के बाद से दो-ढाई हजार आबादी के केवल एक शान्तिपूर्ण गाँव में पहली बार तीन दिन का कर्फ्यू मात्र आशंका के चलते लगाया गया। प्रशासन की इस कार्रवाई से सवाल यह उठता है कि शान्तिपूर्ण मॉकपोल से प्रशासन आखिर इतना भयभीत क्यों था? इस सवाल का उत्तर जितना साफ है उतना ही आसान भी। भाजपा के उम्मीदवार को गाँववालों की आशंकानुसार पर्चियों से मॉकपोल में यदि सौ-डेढ़ सौ वोट मिलते तो यह ईवीएम के जरिये चुनाव परिणाम में घपले का पक्का सबूत हो जाता।

यह मुहिम अन्य गाँवों में भी फैलने का खतरा था। यूँ भी महाराष्ट्र के अनेक क्षेत्रों में महाराष्ट्र विधानसभा के चुनाव परिणामों को लेकर आश्चर्य और असन्तोष है। अकोला जिले के भी दो गाँवों में मारकड़वाड़ी की तरह गाँववालों द्वारा 6 दिसम्बर को मॉकपोल की घोषणा हो चुकी थी, जो नहीं हुआ। सम्भवतः मारकड़वाड़ी में प्रशासन की दमनात्मक कार्रवाई को देखकर गाँववालों ने मॉकपोल रोक दिया।

मुख्य चुनाव आयुक्त राजीव कुमार के नेतृत्व में देश का चुनाव आयोग किस तरह काम कर रहा है उसका आईना है मारकड़वाड़ी का घटनाक्रम। इस घटनाक्रम से साफ हो जाता है कि चुनाव आयोग सारी वीवीपेट पर्चियों को न गिनने पर क्यों अड़ा है। कण्डक्ट ऑफ इलेक्शन रूल्स 56 (डी) (4) एवं 60 के अनुसार ई.वी.एम. के आँकड़े और वीवीपेट पर्चियों की गिनती में अन्तर पाये जाने पर वीवीपेट पर्चियों की संख्या को ही अन्तिम यानी फाइनल माना जाएगा।

अभी तक किसी लोकसभा या विधानसभा क्षेत्र के लॉटरी डालकर चुने गये किन्हीं पाँच मतदान केन्द्रों की वीवीपेट पर्चियाँ ही गिनी जाती हैं। सवाल यह है कि वीवीपेट पर्चियों की गिनती को नियम के मुताबिक फाइनल माना जाता है तो सभी वीवीपेट मशीनों की पर्चियाँ क्यों नहीं गिनी जातीं? सवाल यह भी है कि जब सबकी पर्चियों की गिनती नहीं होनी है तो इतनी सारी वीवीपेट मशीनों की खरीद पर चुनाव आयोग द्वारा जनता के टैक्स का पैसा क्यों खर्च किया जा रहा है। सभी वीवीपेट मशीनों की पर्चियों को गिनकर मिलान किये बिना सारा सिस्टम सही होने के राजीव कुमार के दावे को क्यों सही माना जाए।

पिछली बार ईडी, इनकम टैक्स और खरीद-फरोख्त के जरिये एकनाथ शिन्दे का नेतृत्व स्वीकार कर भाजपा ने कैसे सरकार बनायी यह किसी से छिपा नहीं है। लोकसभा चुनाव में केवल 240 सीटों पर सिमटने के बाद भाजपा के लिए साम, दाम, दण्ड, भेद और अनैतिक हथियारों से महाराष्ट्र चुनाव जीतना जरूरी था। महाराष्ट्र में मोदी जी के मित्र गौतम अडानी के भी करोड़ों रुपयों का धन्धा दाँव पर लगा है।

अब हम पाठकों की सुविधा और समझ के लिए इस चुनाव और इसे जीतने के लिए मोदी जी और उनके इशारों पर नाचने वाले चुनाव आयोग के हथकण्डों को बिन्दुवार रखेंगे। आगे बढ़ने से पहले एक बात यहाँ स्पष्ट करना जरूरी है कि यहाँ दिये जा रहे सभी आँकड़े और तारीखें सरकारी वेबसाइटों और सूत्रों से लिये गये हैं और सरकारी वेबसाइटों और स्रोतों से इनकी जाँच की जा सकती है।

2009, 2014, 2019 में हरियाणा विधानसभाओं के चुनाव एक साथ ही हुए थे। चुनाव आयोग ने 2024 में महाराष्ट्र विधानसभा का चुनाव हरियाणा से अलग 20 नवम्बर को और परिणामों की घोषणा 23 नवम्बर को क्यों रखी जब पिछली विधानसभा का कार्यकाल समाप्त होने में मात्र तीन दिन शेष थे। 26 नवम्बर को पिछली लोकसभा का कार्यकाल समाप्त होने वाला था। झारखण्ड में भी 23 नवम्बर, 2024 को परिणाम घोषित हुए जब कि पिछली विधानसभा का कार्यकाल 5 जनवरी, 2025 को समाप्त हो रहा था। हरियाणा में विधानसभा का कार्यकाल 3 नवम्बर, 2024 तक था लेकिन चुनाव परिणामों की घोषणा 33 दिन पूर्व 8 अक्टूबर, 2024 को हो चुकी थी। सामान्यतः चुनाव परिणाम और विधानसभा कार्यकाल समाप्ति के बीच पर्याप्त अन्तराल रखा जाता है। फिर महाराष्ट्र में यह केवल तीन दिन ही क्यों रखा गया? मोदी-शाह के हर कदम के पीछे एक सोची-समझी रणनीति, सीधे कहें तो एक साजिश होती है। भारी विजय की छोड़िए भाजपा तो विजय के प्रति भी आशंकित थी। यदि महाराष्ट्र विकास अघाड़ी अधिक सीटें जीतने के बावजूद आपसी सामंजस्य के अभाव में तीन दिन में सरकार बनाने का दावा पेश नहीं कर पाती तो भाजपा सहयोगियों और खरीद-फरोख्त के दम पर सरकार बना लेती यह सम्भावना थी।

लोकसभा चुनाव 2019 और 2024 के बीच पाँच साल में महाराष्ट्र में वोटरों की संख्या में 34 लाख की वृद्धि हुई। लेकिन मई 2024 के लोकसभा और नवम्बर 2024 के विधानसभा चुनाव के बीच मात्र छः माह में महाराष्ट्र में 50 लाख वोटर बढ़ गये। वह भी तब, जब 5 लाख वोटरों के नाम वोटर लिस्ट से हटाये गये। यानी 55 लाख वोटर वृद्धि छः महिनों में। अकेले मुम्बई शहर और उपनगरों की 36 सीटों पर, बृहन मुम्बई नगर पालिक निगम के अनुसार 43020 वोटरों के नाम वोटर लिस्ट से हटाये गये।

हरियाणा और महाराष्ट्र चुनाव तारीखों की घोषणा के बीच आचार संहिता लागू होने में दो माह के अन्तर में महाराष्ट्र में लाड़की बहिण, लाड़का भाऊ, किसानों, बेरोजगारों पर योजनाओं के रूप में जमकर धनवर्षा की गयी। 15 अक्टूबर को चुनाव घोषणा से पूर्व 5 अक्टूबर को प्रधानमन्त्री किसान सम्मान निधि की 18वीं किश्त के दो-दो हजार रुपये किसानों के खाते में डाले गये। उद्घाटनों, शिलान्यासों की भी रेलम-पेल रही। दो माह

समय अन्तराल का खुलकर दोहन हुआ वोट खरीदने के लिए। हरियाणा में तो चुनाव की तारीख 1 अक्टूबर से चार दिन बढ़ाकर 5 अक्टूबर की गयी और ठीक चुनाव के दिन सारे देश के साथ हरियाणा के किसानों के खातों में प्रधानमन्त्री किसान सम्मान निधि के दो-दो हजार रुपये डाले गये। चुनाव आचार संहिता गयी तेल लेने।

मुख्य चुनाव आयुक्त राजीव कुमार की परफेक्ट सिस्टम के दावे की हवा महाराष्ट्र में भी निकल गयी। 288 विधानसभा सीटों में से केवल आठ सीटों पर डाले गये वोटों से गिने गये वोट कम निकले। शेष सभी 280 सीटों पर डाले गये वोटों से गिने गये वोट अधिक थे। पूरे महाराष्ट्र राज्य में कुल वोट पड़े 6,40,88,195 और गिने गये वोट थे 6,45,92,508 यानी डाले गये वोटों से 5,04,313 अधिक वोट गिनती में निकले। महाराष्ट्र विकास अघाड़ी में शामिल पार्टियों ने उनके समर्थक वोटरों के नाम वोटर लिस्ट से काटने और फर्जी नाम जोड़ने की शिकायतें चुनाव आयोग से की पर आयोग ने जाँच नहीं की। अमित शाह चुनावों में भाजपा के जिस 'पन्ना प्रमुख' का जिक्र करते हैं उसका प्रमुख कार्य यही होता है।

मतगणना के दिन शाम पाँच बजे 58.22% मतदान बताया गया। यह कच्चा आँकड़ा होता है क्योंकि चुनाव नियमानुसार जो मतदाता चुनाव के लिए निर्धारित समय तक कतार में होते हैं उन्हें मतदान करने का हक होता है। अमूमन ऐसे लोगों की संख्या सौ-सवा सौ के लगभग होती है। इनके वोट डालने में तकरीबन एक से दो घण्टे लग जाते हैं। तब रात आठ बजे फिर से वोटों का आँकड़ा बताया जाता है और यह करीब-करीब सही आँकड़ा होता है। अन्तिम आँकड़ा रात 11 बजे आता है और इसे ही अन्तिम आँकड़ा कहा जाता है। रात 11 बजे मतदान का प्रतिशत 6.80% बढ़कर 65.02% हो गया। इसका अर्थ हुआ दो घण्टों में 76 लाख वोट पड़ गये जो कहीं से भी विश्वसनीय नहीं है। अगले दिन सुबह मतदान का प्रतिशत 1.03 बढ़कर 66.05% हो गया। यानी रात-भर में 10 लाख 230 वोट और बढ़ गये।

चुनाव परिणाम के अनुसार भाजपा को 26.77% वोट और 132 सीटें, शिन्देवाली शिवसेना को 12.38% वोट और 57 सीटें, एन.सी.पी. (अजित) को 9.01% वोट और 41 सीटें, शिवसेना (उद्धव ठाकरे) को 9.96% वोट और 20 सीटें, एन.सी.पी. (शरद पवार) को 11.28% वोट और 10 सीटें तथा काँग्रेस को 12.42% वोट और 16 सीटें मिलीं।

शरद पवार की एन.सी.पी. को अजित पवार की एन.सी.पी. से 2.27% वोट अधिक मिले लेकिन सीटें 31 कम मिलीं। शिन्दे की शिवसेना से काँग्रेस के 0.04% वोट अधिक हैं लेकिन सीटें 41 कम हैं। शरद पवार की एन.सी.पी. को, शिन्दे की शिवसेना से मात्र 1.10% वोट कम मिले हैं लेकिन सीटें 47 कम हैं। महा विकास अघाड़ी के तीनों दलों का संयुक्त वोट प्रतिशत 33.66 है जो भाजपा के 26.77% से 6.89% अधिक है लेकिन तीनों की संयुक्त 46 सीटों से भाजपा की सीटें लगभग तीन गुनी 132 सीटें हैं।

क्या आपको नहीं लगता कि महाराष्ट्र चुनाव परिणाम के उपर्युक्त आँकड़े सीधे तौर पर और बेहयाई की हद तक राजीव कुमार और उनके अधीन चुनाव आयोग द्वारा मतदाता की सामान्य बुद्धि का मखौल और उसके मताधिकार का घोर अपमान है।

वह समय चला गया जब सत्ता की राजनीति का आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक ब्लू प्रिण्ट हुआ करता था। मोदी-शाह की राजनीति के ब्लू प्रिण्ट में केवल कुर्सी है। ■

(पृष्ठ 29 का शेषांश)

लोगों द्वारा नागरिकता त्याग), 5. सत्ता और शिक्षा संस्थानों में बढ़ती साम्प्रदायिकता (धर्मस्थानों के बारे में 1991 के संसदीय निर्णय का उल्लंघन, शासक दल में लोकसभा में एक भी मुसलमान सदस्य का न होना, तथा शैक्षणिक नियुक्तियों में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का हस्तक्षेप), 6. जल-जंगल-जमीन की कारपोरेट लूट, और 7. राष्ट्रीय सीमाओं की असुरक्षा (चीन का हिमालय क्षेत्र में 4,000 किलोमीटर क्षेत्र पर कब्जा) का सच मिलाकर देखना हमारी राष्ट्रीय तस्वीर को बहुत सोचनीय बनाता है। इसमें कृषि के कारपोरेटीकरण, स्वास्थ्य और शिक्षा के व्यवसायीकरण और रेल जैसी बुनियादी सेवाओं के निजीकरण को शामिल करने पर चिन्ता ज्यादा होना स्वाभाविक है।

सिर्फ इस बात का सन्तोष है कि न्याय, समता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व आधारित राष्ट्र-रचना का हमारा लक्ष्य बना हुआ है। विऔपनिवेशिकरण, विकास और विकेन्द्रित लोकतन्त्र के पक्ष में प्रबल सहमति है। समाज का सरोकारी हिस्सा मानव-अधिकारों, अस्पृश्यता उन्मूलन, स्त्री-सशक्तीकरण, सर्वधर्म समभाव और निर्धनता निवारण की तरफ झुका हुआ है। किसान आन्दोलन प्राणवान बना हुआ है और श्रमजीवियों के संगठनों की एकता कायम है। चुनाव की राजनीति में जन-साधारण का महत्त्व बढ़ रहा है और चुनाव-सुधार राजनीतिक दलों की प्राथमिकता में शामिल किया जा रहा है। विद्यार्थियों और शिक्षित बेरोजगारों में सक्रियता बढ़ी है। महँगाई, कमाई, दवाई और पढ़ाई के चार मोर्चों पर लोग जुट रहे हैं। 'अच्छे दिन' के सरकारी दावों को अस्वीकारा जाने लगा है। लेकिन असली उत्साह की बात यह है कि देश अपने संविधान को जानने का काम पूरा करने में जुट गया है–'अब जब बात निकली है तो दूर तक जाएगी'! इससे नागरिकता निर्माण और भारतीय राष्ट्रीयता को निश्चय गति मिलेगी। यह भी सम्भव है कि वैश्वीकरण, निजीकरण और उदारीकरण के मोहपाश से देश को मुक्ति मिले और वैश्विक पूँजीवाद का माया-जाल बिखर जाए।

आइये, 2025 को भारतीय संविधान के संरक्षण और संवर्धन के लिए समर्पित करें! ■

विपक्ष में फिर हुआ सुराख

शिवाशंकर पाण्डेय

उत्तर प्रदेश

अन्तर्विरोध एवं गला काट प्रतिस्पर्धाओं के चलते ही इण्डी गठबन्धन की दशा लगातार खराब होती जा रही है। ममता बनर्जी ने काँग्रेस को अनुपयुक्त मानकर गठबन्धन में नेतृत्व के लिए खुद को उपयुक्त बताया है। सपा, एन.सी.पी., आम आदमी पार्टी और राजद ने भी ममता बनर्जी की अगुवाई को उपयुक्त माना है। एक बात महत्त्वपूर्ण यह भी कि वामपन्थी दलों और ममता बनर्जी का विरोध जग जाहिर है। उधर, बंगाल में वाममोर्चा और काँग्रेस के बीच छत्तीस का रिश्ता और घमासान भी सबके सामने है।

उपचुनाव के परिणाम में एन.डी.ए., खासकर भारतीय जनता पार्टी की बम्पर जीत के बाद उत्तर प्रदेश में इण्डी गठबन्धन में सुराख बढ़ता जा रहा है। बसपा का रुख तो पहले से ही साफ रहा, अब काँग्रेस और सपा के बीच का फासला बढ़ता जा रहा है। काँग्रेस सबसे पुराना दल है तो सपा उत्तर प्रदेश में विपक्ष का सबसे बड़ा दल। सपा और काँग्रेस के बीच बीते नवम्बर महीने से जो खटपट शुरू हुई वो खत्म होने का नाम नहीं ले रही है। इसका असर उत्तर प्रदेश के विपक्ष की राजनीति पर भी पड़ता दिख रहा है।

पत्रकारिता में शोध करने वाले वरिष्ठ पत्रकार डॉ. अनिल कुमार मिश्र कहते हैं– ''लोकतान्त्रिक राजनीति में छोटे-छोटे दलों को एक साथ रख पाना तराजू में मेढक तौलने की तरह है।'' रायबरेली के वरिष्ठ पत्रकार गौरव अवस्थी तर्क देते हैं कि राजनीति में विपक्ष का मजबूत होना जरूरी होता है, पर उत्तर प्रदेश में पिछले एक दशक से विपक्ष का कमजोर रहना बहुत अच्छा नहीं है। बहरहाल, सत्ता से दूर होती काँग्रेस को सहयोगी दल बात-बात पर आँख दिखाने लगे हैं। इण्डिया गठबन्धन में तीसरे सबसे बड़े दल तृणमूल की नेता ममता बनर्जी ने विपक्षी गठबन्धन की अगुवाई करने की मंशा जाहिर कर दी। ममता बनर्जी के इस आशय की घोषणा का ही शायद विपक्ष के कुछ दलों को इन्तज़ार था। ममता बनर्जी के इस बयान के बाद ही सपा के महासचिव रामगोपाल यादव ने यह कहने में न कोई संकोच किया और न ही देरी लगायी कि–''काँग्रेस उसकी नेता नहीं है।'' पिछले दिनों सपा की तरफ से आये एक और बयान के कई मायने निकाले गये। सपा की तरफ से बयान आया कि–''काँग्रेस अगर चुनाव में बेहतर प्रदर्शन करती तो मोदी तीसरी बार प्रधानमन्त्री न बन पाते।''

महाराष्ट्र में तो पहले ही समाजवादी पार्टी गठबन्धन से दूर ही रही और उसके बाद अब इस तरह के आये बयान को लेकर जनमानस के बीच अगर-मगर, परन्तु-लेकिन, जैसे कई तरह के तर्क दिये जा रहे हैं। जानकारों की मानें तो इण्डिया गठबन्धन में शामिल कई दलों के नेताओं को अब ये लगने लगा है कि राहुल गाँधी की अगुवाई वाली काँग्रेस के नेतृत्व में साथ रहकर उनका राजनीतिक भविष्य ज्यादा बेहतर नहीं है। पिछले दिनों हुए लोकसभा चुनाव में भले ही इण्डिया गठबन्धन, खासकर सपा मजबूती से उभरकर सामने आयी हो पर उसके बाद के चुनाव में तो भारतीय जनता पार्टी ने बेहतर प्रदर्शन कर खुद को मजबूत राजनीतिक दल के रूप में स्थापित करने का काम किया है।

उत्तर प्रदेश की राजनीति पर नजर रखने वाले 'सियासी-पण्डितों' का मानना है कि यहाँ की राजनीति में नये किस्म की पटकथा लिखी जा रही है। सम्भल की हाल की घटनाएँ हों या तीर्थराज प्रयाग में हर साल लगने वाले कुम्भ मेला की इस बार भव्य, दिव्य, नव्य महाकुम्भ की विश्व-भर में जबरदस्त ब्राण्डिंग, इन सबने

लेखक नेशनल फेडरेशन ऑफ जर्नलिस्ट, ऑथर एण्ड मीडिया के प्रदेश महामन्त्री हैं।
+918840338705
shivas_pandey@rediffmail.com

नया माहौल तैयार किया है। उधर, विपक्षी दलों को ये लगने लगा है कि काँग्रेस की अगुवाई वाले गठबन्धन में रहकर राजनीति की नैया का पार होना आसान नहीं है।

दरअसल, अपनी जमीन खिसकने का डर विपक्ष के सभी घटकों को सता रहा है। लोकसभा चुनाव के बाद इण्डी गठबन्धन की कोई बैठक भी नहीं बुलायी गयी।

राजनीतिक विश्लेषक के.सी. त्यागी कहते हैं–''काँग्रेस के नेतृत्व वाली इण्डी गठबन्धन के उठा-पटक और वैचारिक अन्तर्विरोधों को भाँपने के बाद ही शायद नीतीश कुमार ने इससे पहले ही किनारा कर लिया। जबकि नीतीश कुमार ही इस गठबन्धन के शुरुआती अगुवा रहे हैं। याद होगा कि इस गठजोड़ की पहल नीतीश कुमार ने ही हिसार में 25 सितम्बर, 2022 को की थी। हिसार में चौधरी देवीलाल की जयन्ती पर नीतीश कुमार, तेजस्वी यादव, फारूक अब्दुल्ला, ओमप्रकाश चौटाला, डी राजा, शरद पवार, सीताराम येचुरी आदि प्रमुख नेताओं की मौजूदगी में ही टी.एम.सी., आम आदमी पार्टी, समाजवादी पार्टी समेत कई दलों में उस समय भी काँग्रेस की अगुवाई के विरोध की सुगबुगाहट थी। नीतीश कुमार प्रधानमन्त्री पद के लिए पहली पसन्द जरूर थे, पर गठबन्धन के संयोजक नीतीश कुमार न बन पाये, इस डर से काँग्रेस ने बेंगलुरु और मुम्बई की बैठकों की पहल अपने हाथों में ले ली। इसके बाद दिल्ली में ममता बनर्जी की तरफ से नीतीश कुमार के संयोजक बनने को लेकर सवाल उठा दिया गया। इस तरह विपक्षी एकता को असफल करने की शुरुआती नींव तो उसी समय पड़ गयी थी। बाद में हालात कुछ ऐसे बनने लगे कि गठबन्धन को सक्रिय करने के लिए कोई कदम नहीं उठाये गये। मामला ठण्डा पड़ते हुए दिखने लगा था। हालात तेजी से बदलने लगे। जिन नीतीश कुमार के संयोजक बनने की बात चल रही थी वही नीतीश कुमार ने गठबन्धन को अलविदा कहते हुए खुद को इण्डी से अलग कर लिया। इतना ही नहीं, हरियाणा के चुनाव में भी काँग्रेस ने पेंच फँसाया।

कुल मिलाकर, अन्तर्विरोध एवं गला काट प्रतिस्पर्धाओं के चलते ही इण्डी गठबन्धन की दशा लगातार खराब होती जा रही है। ममता बनर्जी ने काँग्रेस को अनुपयुक्त मानकर गठबन्धन में नेतृत्व के लिए खुद को उपयुक्त बताया है। सपा, एन.सी.पी., आम आदमी पार्टी और राजद ने भी ममता बनर्जी की अगुवाई को उपयुक्त माना है। एक बात महत्त्वपूर्ण यह भी कि वामपन्थी दलों और ममता बनर्जी का विरोध जग जाहिर है। उधर, बंगाल में वाममोर्चा और काँग्रेस के बीच छत्तीस का रिश्ता और घमासान भी सबके सामने है। सपा, राजद, एन.सी.पी., शिवसेना, यू.टी.बी., द्रमुक, टी.एम.सी., वाई.एस.आर. काँग्रेस, जदयू, आम आदमी पार्टी से लेकर वामदलों तक को हासिल हुआ जनाधार काँग्रेस पार्टी से ही छीना हुआ है। यह भी सर्वविदित है कि सपा के मुखिया रहे मुलायम सिंह यादव ही 1999 में सोनिया गाँधी को प्रधानमन्त्री बनने के दौरान सबसे बड़ी बाधा बनकर सामने आये और आखिरकार काँग्रेस की प्रमुख नेता सोनिया गाँधी उस समय प्रधानमन्त्री बनते-बनते रह गयीं। शुरुआती तौर पर नीतीश कुमार और लालू यादव की जोड़ी ने ही बिहार राज्य में काँग्रेस को हाशिये पर पहुँचाने का कार्य किया। कालान्तर में लालू यादव के लिए वही काँग्रेस एक जरूरत बन गयी। इधर, महाराष्ट्र में चुनाव के बाद समाजवादी पार्टी ने महा विकास अघाड़ी से दूरी बनाने का ऐलान कर दिया। दरअसल, महाराष्ट्र में शिवसेना (यू.टी.बी.) के एक एमएलसी के बाबरी मस्जिद विध्वंस का समर्थन कर देने से भी इण्डी गठबन्धन के अन्दरूनी मतभेद बढ़ गये हैं। सियासी क्षेत्र में ये सवाल जोर पकड़ने लगा है कि महाराष्ट्र में विरोध तो अन्य जगहों पर क्या होगा? क्या इन सबका प्रभाव देश के अन्य हिस्सों पर नहीं पड़ेगा? उत्तर प्रदेश में बड़ी ताकत के रूप में उभरी समाजवादी पार्टी का रुख काँग्रेस के प्रति कैसा रहेगा? काँग्रेस के एक पूर्व पदाधिकारी कहते हैं कि उत्तर प्रदेश में समाजवादी पार्टी और काँग्रेस एक साथ ही रहेंगे। इस तर्क की काट करते हुए पत्रकार रवि पटवा कहते हैं–राजनीति में चलने वाला शह-मात का ये खेल है, कुछ भी हो सकता है। बहरहाल, भारतीय जनता पार्टी को जड़ से उखाड़ फेंकने का बार-बार ऐलान करने वाला इण्डी गठबन्धन का भविष्य ज्यादा बेहतर नहीं दिख रहा है। एक बार फिर सवाल मुँह बाये खड़ा है कि इण्डी गठबन्धन सत्ता हासिल करने में कहाँ तक कामयाब होगा?

■

सपा, राजद, एन.सी.पी., शिवसेना, यू.टी.बी., द्रमुक, टी.एम.सी., वाई.एस.आर. काँग्रेस, जदयू, आम आदमी पार्टी से लेकर वामदलों तक को हासिल हुआ जनाधार काँग्रेस पार्टी से ही छीना हुआ है। यह भी सर्वविदित है कि सपा के मुखिया रहे मुलायम सिंह यादव ही 1999 में सोनिया गाँधी को प्रधानमन्त्री बनने के दौरान सबसे बड़ी बाधा बनकर सामने आये। शुरुआती तौर पर नीतीश कुमार और लालू यादव की जोड़ी ने ही बिहार राज्य में काँग्रेस को हाशिये पर पहुँचाने का कार्य किया। इधर, महाराष्ट्र में चुनाव के बाद समाजवादी पार्टी ने महा विकास अघाड़ी से दूरी बनाने का ऐलान कर दिया।

झारखण्ड

आर्थिक चुनौतियों की कसौटी पर हेमन्त

विवेक आर्यन

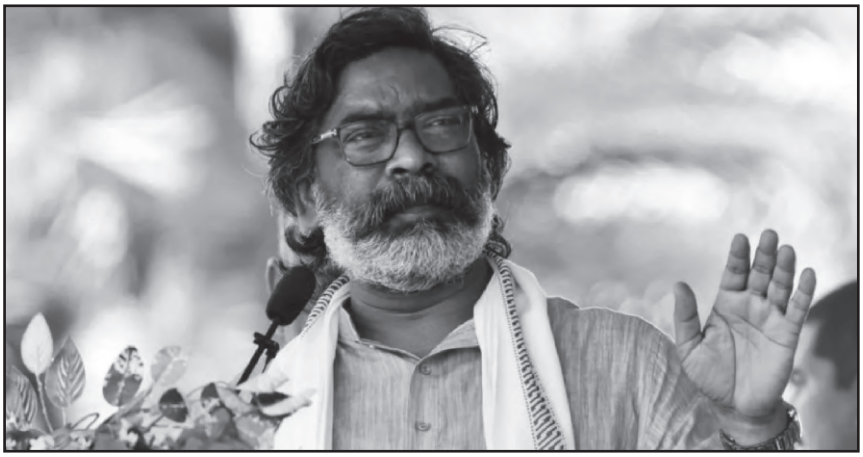

केन्द्र सरकार के पास राज्य सरकार के 1.36 लाख करोड़ रुपये बकाया हैं, जिसकी माँग कई सालों से हेमन्त सोरेन खुले तौर पर कर रहे हैं। यह राशि चुनावी मंचों से भी कई बार दोहरायी गयी है। हाल ही में सुप्रीम कोर्ट ने निर्देश दिया है कि झारखण्ड सरकार 12 किश्तों में यह राशि केन्द्र सरकार से ले सकती है। प्रत्येक महीने लगभग 11.33 हजार करोड़ की यह राशि राज्य सरकार के लिए सबसे बड़ी राहत होगी।

अँग्रेजी में एक कहावत है–'ग्रेट पावर ब्रिंग्स ग्रेट रिसपॉन्सिबिलिटीज'। झारखण्ड में नवनिर्वाचित सरकार के लिए यह कथन बिल्कुल सटीक मालूम पड़ता है। 56 सीटों पर ऐतिहासिक जीत के साथ झामुमो के नेतृत्व वाली इण्डिया गठबन्धन ने सरकार तो बना लिया, लेकिन जिन वादों, घोषणाओं और सौगातों के दम पर सत्ता हासिल हुई, उन्हें पूरा करना ही नयी सरकार के लिए सबसे बड़ी चुनौती बन गयी है। लगभग सभी राजनीतिक विश्लेषकों ने यह माना है कि झारखण्ड विधानसभा चुनाव में इण्डिया गठबन्धन को मिली अप्रत्याशित जीत के पीछे 'मइयाँ सम्मान' जैसी प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता योजनाएँ हैं।

नयी सरकार के गठन होने के साथ ही मइयाँ सम्मान की राशि जाने में देरी हुई। आलेख लिखे जाने तक महिलाओं के खाते में राशि नहीं जा सकी थी। हालाँकि सरकार ने स्पष्ट किया है कि महिलाओं को योजना की घोषित राशि ही मिलेगी, किसी तकनीकी कारणों से देरी की बात कही गयी है। लेकिन इस बात से साफ हो जाता है कि लाभकारी योजनाओं के क्रियान्वयन में सरकार को वित्तीय समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है, जैसा कि पहले भी अन्देशा लगाया गया था। हेमन्त सोरेन और सरकार के अन्य घटक इसके लिए तमाम विकल्पों पर विचार-विमर्श कर रहे हैं।

इसके पहले कि हम सरकार के समक्ष उपलब्ध विकल्पों का विश्लेषण करें, यह देखना जरूरी है कि प्रत्यक्ष लाभकारी योजनाओं से लगभग कितना वित्तीय बोझ सरकार के ऊपर पड़ेगा।

मुख्यमन्त्री मइयाँ सम्मान योजना के तहत राज्य की 18 से 49 साल की महिलाओं को प्रति माह 2500 रुपये की प्रोत्साहन राशि की घोषणा हुई थी। तब लाभुकों की संख्या 49 लाख के करीब थी, जो अब बढ़कर 65 लाख के करीब हो गयी है। आवेदकों की संख्या और भी बढ़ने की उम्मीद है। सरकार ने कहा है कि ऐसे आवेदनों को खारिज करेंगे, जो उम्र या अन्य कारणों से राशि पाने के योग्य नहीं हैं। मसलन किसी महिला का पति अगर सरकारी नौकरी में हो या वे खुद नौकरी पेशे में हों, तो उन्हें योजना का लाभ नहीं दिया जाएगा। यह बात तर्कसंगत भी लगती है। लेकिन इसके बाद भी राज्य में कम-से-कम 60 लाख महिलाएँ इस योजना के लिए योग्य होंगी।

अगर हम इसे वित्तीय खाँचे में डालकर देखें, तो 60 लाख महिलाओं को प्रतिमाह 2500 रुपये देने का मासिक खर्च डेढ़ सौ करोड़ रुपये है। सालाना तौर पर कुल राशि होती है 1800 करोड़ रुपये यानी पाँच सालों में 9000 करोड़ रुपये। यह राशि इतनी बड़ी है कि सामान्य तौर पर किसी एक विभाग का सालाना बजट इसके आस-पास होता

लेखक पत्रकारिता के अध्यापक रहे हैं और वर्तमान में आदिवासी विषयों पर शोध और स्वतन्त्र लेखन कर रहे हैं।
+919162455346
aryan.vivek97@gmail.com

है। हालाँकि झारखण्ड विधानसभा ने 12 दिसम्बर को वित्तीय वर्ष 2024-25 के लिए 11697.45 करोड़ रुपये का दूसरा अनुपूरक बजट पारित किया। इसमें मइयाँ सम्मान योजना को बढ़ावा देने के लिए महिला, बाल विकास और सामाजिक सुरक्षा विभाग को 6390.55 करोड़ रुपये आवंटित किये गये हैं। जाहिर है सरकार की मंशा योजना की राशि रोकने की तो बिल्कुल नहीं दिख रही, लेकिन यह एक बड़ी चुनौती है, इसे अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता।

ऐसी ही एक और घोषणा हेमन्त सोरेन ने 450 रुपये में घरेलू गैस सिलिण्डर देने को लेकर की थी। 2023 के आँकड़ों के मुताबिक राज्य में एलपीजी के कुल उपभोक्ता 62.86 लाख हैं। इनमें से 36.46 लाख उपभोक्ता प्रधानमन्त्री उज्ज्वला योजना के तहत रजिस्टर्ड हैं और 26.39 लाख उपभोक्ता सामान्य हैं। राज्य में घरेलू एलपीसी सिलिण्डर का गैर-सब्सीडी दर आम तौर पर 850 से 860 रुपये के करीब रहता है। यानी प्रति सिलिण्डर सरकार को कम-से-कम 400 रुपये देने होंगे। 26.39 लाख उपभोक्ताओं के लिए एक सिलिण्डर का खर्च आता है 105.5 करोड़। प्रति उपभोक्ता साल के 12 सिलिण्डर के औसत को भी हम मानकर चलें तो 26.39 लाख लोगों का साल-भर सिलिण्डर पर घोषित सब्सिडी देने का कुल खर्च होगा कम-से-कम 1260 करोड़ रुपये।

इसी तरह सरकार ने वादा किया था कि वे किसानों से 3200 रुपये प्रति क्विण्टल की दर पर धान खरीदेंगे। अभी यह दर 2400 रुपये के आस-पास है। यानी प्रति क्विण्टल 800 रुपये का इजाफा। इस बार सरकार ने करीब 60 लाख क्विण्टल धान खरीदने की लक्ष्य रखा है। यानी कुल खर्च होता है 480 करोड़ रुपये। हालाँकि जानकारी के मुताबिक सरकार ने 2400 रुपये प्रति क्विण्टल के दर पर ही धान की खरीद शुरू कर दी है। कृषि मन्त्री इरफान अन्सारी ने कहा है कि प्रति क्विण्टल कुछ बोनस का प्रावधान किसानों के लिए किया गया है। लेकिन 3200 रुपये प्रति क्विण्टल की दर पर खरीद को लेकर उन्होंने कोई बयान नहीं दिया है।

अगर हम सिर्फ इन तीन बड़ी घोषणाओं को ही जोड़कर देखें, सरकार के सालाना खर्च में करीब 3480 करोड़ रुपये का अतिरिक्त बोझ पड़ेगा। वित्तमन्त्री राधाकृष्ण किशोर ने एक कार्यक्रम में मीडिया के सामने कहा कि योजनाओं की पूर्ति के लिए सरकार को 18,000 करोड़ रुपयों की आवश्यकता है। इसके अलावा 10 लाख युवाओं को रोजगार का वादा, किसानों को बिना ब्याज के लोन, वृद्धा पेन्शन के तहत 2500 रुपये सहित अन्य कई योजनाएँ व घोषणाएँ हैं, जिसका सीधा असर सरकारी खजाने पर पड़ेगा।

सवाल है कि झारखण्ड सरकार के पास अतिरिक्त वित्तीय दवाब से निबटने के लिए क्या रास्ते हैं और कैसे इन योजनाओं व घोषणाओं की पूर्ति निरन्तर 5 सालों तक की जा सकेगी? सरकार इसके लिए राजस्व वसूली पर विशेष ध्यान दे रही है। इस दिशा में सबसे अधिक जोर केन्द्र के पास राज्य की बकाया राशि को प्राप्त करने पर है। ज्ञात हो कि केन्द्र सरकार के पास राज्य सरकार के 1.36 लाख करोड़ रुपये बकाया हैं, जिसकी माँग कई सालों से हेमन्त सोरेन खुले तौर पर कर रहे हैं। यह राशि चुनावी मंचों से भी कई बार दोहरायी गयी है। हाल ही में सुप्रीम कोर्ट ने निर्देश दिया है कि झारखण्ड सरकार 12 किश्तों में यह राशि केन्द्र सरकार से ले सकती है। प्रत्येक महीने लगभग 11.33 हजार करोड़ की यह राशि राज्य सरकार के लिए सबसे बड़ी राहत होगी।

दरअसल केन्द्र द्वारा किसी राज्य में खनन, विस्थापन, जमीन अधिग्रहण आदि के लिए उस राज्य की सरकार को मुआवजा दिये जाने का प्रावधान है। झारखण्ड में कई सालों से यह मुआवजा बढ़कर 1.36 लाख करोड़ हो गया है, जिसके भुगतान को लेकर अब सुप्रीम कोर्ट ने निर्देश दिये हैं।

हालाँकि राज्य सरकार अपने अन्य विकल्पों पर भी ध्यान दे रही है। वित्त मन्त्री राधाकृष्ण किशोर का कहना है कि उड़ीसा के मुकाबले झारखण्ड में अधिक खान हैं, यहाँ कोयला आदि खनिज का खनन भी बड़े पैमाने पर होता है, लेकिन फिर भी खनन से झारखण्ड की कुल आय 11 हजार करोड़ रुपये ही है, जबकि उड़ीसा को 40-45 हजार करोड़ रुपये की आय होती है। वित्त मन्त्री इस बात को लेकर गम्भीर हैं कि उड़ीसा की ही तरह झारखण्ड भी अपनी नीतियों को थोड़ा बदलकर अपने राजस्व को बढ़ा सकता है। पिछले दिनों राजधानी में जब अचानक ट्रैफिक नियमों को तोड़ने वालों के चालान काटे जा रहे थे, तब भी यह आम चर्चा का विषय बन गया था कि सरकार राजस्व वसूली में इजाफा करने के लिए तमाम तरह के प्रयास कर रही है।

इस बात में दो राय नहीं है कि झारखण्ड सरकार अपनी फ्लैगशिप योजनाएँ–मुख्यमन्त्री मइयाँ सम्मान, पेन्शन की बाकी योजनाएँ आदि बन्द नहीं करेगी। झामुमो इन योजनाओं के असर को भलीभाँति जानती है। पार्टी अगली बार अकेले दम पर सरकार बनाने की योजना पर काम रही है। जिस तरह का जनादेश इस बार मिला है, झामुमो के अकेले सरकार बना पाने की क्षमता पर शक नहीं किया जा सकता। इस लिहाज से हेमन्त सोरेन ऐसी कोई गलती नहीं करना चाहेंगे, जिससे उनके ऊपर विश्वासघात का दाग लगे। इसलिए वे किसी भी कीमत पर मइयाँ सम्मान जैसी योजना को बन्द करने या उसमें कटौती करने जैसा कोई फैसला नहीं लेंगे।

लेकिन एक बात जो सबको थोड़ी खटक रही है और जिसका जिक्र करना जरूरी हो जाता है, वो है कि महिलाओं के दम पर सत्ता में आने वाली पार्टी ने अपने 6 मन्त्री पदों में (मुख्यमन्त्री को मिलाकर) एक भी महिला नेत्री को स्थान नहीं दिया। जबकि उनके पास लुइस मराण्डी जैसी सीनियर नेता और कल्पना सोरेन जैसा बेहद प्रभावी नेता हैं। कल्पना सोरेन को संगठन की बागडोर दिये जाने पर भी किसी तरह की पहल नहीं दिख रही है। हालाँकि कुछ पत्रकार और राजनीतिज्ञ इस बात की तरफ इशारा कर रहे हैं कि कल्पना सोरेन की कॉर्डिनेशन कमिटी में कोई बड़ा पद दिया जा सकता है। लेकिन यह बात तो साफ हो गयी कि सरकार और संगठन की बागडोर पूरी तरह हेमन्त के ही हाथ में रहेगी। तो इसका अर्थ यह होगा कि ऐसी योजनाओं से बढ़े आर्थिक बोझ को राज्य कैसे ढोता है, यह देखना भी एकमात्र मुख्यमन्त्री हेमन्त सोरेन की जिम्मेवारी होगी।

■

सांस्कृतिक विभाजन की निरर्थक अवधारणा

मणिपुर

जमुना सुखाम

मणिपुर दक्षिण-पूर्व एशिया और भारतीय उपमहाद्वीप के बीच एक मिलन बिन्दु है। राज्य के मध्य में मणिपुर घाटी समुद्र तल से 790 मीटर की ऊँचाई पर है और नौ पहाड़ी श्रृंखलाओं से घिरी हुई है। घाटी में मीतै जनजाति और बिष्णुप्रिया मणिपुरी रहते हैं तो नागा और कूकी-चिन जनजातियाँ पहाड़ियों पर। मीतै वैष्णव हैं और आदिवासी मुख्यतः ईसाई। मणिपुरी संस्कृति से मणिपुर की घाटी में बसी हुई बहुसंख्यक मीतै जाति और पहाड़ों में बसे हुए अल्पसंख्यक आदिवासियों की मिली-जुली संस्कृति का बोध होता है।

लेखिका उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, नीलपद्मा, इम्फाल में शिक्षिका हैं।

+919774675045

jsukham@gmail.com

भारतीय संस्कृति अपनी सम्पूर्णता में एक सम्मिलित संस्कृति है। इस संस्कृति में निगम, आगम, जैन, बौद्ध, द्रविड़, आमीर, हूण, मुस्लिम, अँग्रेजी और अन्य कई संस्कृतियों का सम्मिश्रण हुआ है। इस संस्कृति में तत्कालीन समाज के अन्तर्गत वर्णाश्रम धर्म के द्वारा फैली हुई ऊँच-नीच एवं जाति-पाँति की भावना को मिटाकर समरसता के सिद्धान्त के अनुकूल धर्म को सर्वसाधारण के लिए सुगम बनाने, सम्प्रदायों का समन्वय स्थापित किया है।

पूर्वोत्तर भारत न केवल अपनी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति, घनघोर जंगलों, बेशुमार पर्वतों, तरह-तरह के वन्य जीवों और अपनी अन्तरराष्ट्रीय सीमाओं के कारण पूरे देश का ध्यान अपनी ओर खींचता है, वरन् यहाँ के निवासियों की विविधतापूर्ण सतरंगी संस्कृति, बोलियों, भाषाओं की भिन्नता तथा वेश-भूषा, खान-पान, नृत्य-गान और जीवन-पद्धति की विविधता भी बाहर वालों के लिए आकर्षण का एक मुख्य कारण है। असम, मेघालय, त्रिपुरा, अरुणाचल, मिजोरम, नागालैण्ड, सिक्किम और मणिपुर में विभिन्न मूल-वंश के सैकड़ों प्रकार की जनजातियाँ रहती हैं।

मणिपुरी संस्कृति से मणिपुर की घाटी में बसी हुई बहुसंख्यक मीतै जाति और पहाड़ों में बसे हुए अल्पसंख्यक आदिवासियों की मिली-जुली संस्कृति का बोध होता है। धर्म के स्तर पर आज घाटी में बसे मीतै वैष्णव हैं और पहाड़ों में बसे आदिवासी मुख्यतः ईसाई। मीतै लोगों ने अपने प्राचीन इतिहास को राजकीय दस्तावेजों, अभिलेखों और पुराणों के रूप में सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है।

'चैथारोल कुम्बाबा' एक ऐसा ही राजकीय अभिलेख है जिसमें सन् 33 ई. से लेकर वर्तमान काल तक के सभी मीतै राजाओं का क्रमिक विकास, इतिहास, राज्य में घटित मुख्य घटनाओं और महत्त्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तनों का उल्लेख किया गया है। मीतै जाति के पास पृथ्वी की उत्पत्ति, सृष्टि के विकास, विभिन्न देवी-देवताओं की उत्पत्ति, ईश्वर तथा उसके अवतार एवं मानव जीवन से सम्बन्धित विभिन्न क्रिया-कलापों को लेकर रची गयी मिथकीय कथाओं का एक विशाल भण्डार है। इस तरह की कथाएँ पुराणों (लैथक-लैखारोल) में संग्रहित हैं।

मणिपुर दक्षिण-पूर्व एशिया और भारतीय उपमहाद्वीप के बीच एक मिलन बिन्दु है। राज्य के मध्य में मणिपुर घाटी समुद्र तल से 790 मीटर की ऊँचाई पर है और नौ पहाड़ी श्रृंखलाओं से घिरा हुआ है जो एक पहाड़ी और गर्त भूगोल बनाती हैं। यहाँ तीन प्रमुख जनजातियाँ निवास करती हैं। घाटी में मीतै जनजाति और बिष्णुप्रिया मणिपुरी रहते हैं तो नागा और कूकी-चिन जनजातियाँ पहाड़ियों पर रहती हैं। प्रत्येक जनजाति वर्ग की खास संस्कृति और रीति-रिवाज हैं जो इनके नृत्य, संगीत व पारम्परिक प्रथाओं से दृष्टिगोचर होता है। मणिपुर के लोग कलाकार होते हैं साथ ही सृजनशील होते हैं जो उनके द्वारा तैयार खादी व दस्तकारी के उत्पादों में झलकता है। ये

उत्पाद विश्व-भर में अपनी डिजाइन, कौशल व उपयोगिता के लिए जाने जाते हैं। यहाँ नेपाल से आकर बसे नेपालियों की भी अधिक संख्या है, जो मणिपुर के कई इलाकों में बसे हैं। राष्ट्रीय आयोग द्वारा तकनीकी समूह की रिपोर्ट के अनुसार, 1 जुलाई, 2024 तक मणिपुर की जनसंख्या 3, 260,000 या 3.26 मिलियन या 32.60 लाख होने का अनुमान है। मणिपुर भारत का 23वाँ सबसे अधिक आबादीवाला राज्य है। जनसंख्या के मामले में यह पूर्वोत्तर भारत का चौथा सबसे बड़ा राज्य है। मीतै लोग मणिपुर राज्य की आबादी का लगभग 53% प्रतिनिधित्व करते हैं, इसके बाद विभिन्न नागा जनजातियाँ 20% और कुकी-जो जनजातियाँ 16% हैं। मणिपुर के जातीय समूह विभिन्न धर्मों का पालन करते हैं। 2011 की जनगणना के अनुसार, हिन्दू धर्म और ईसाई धर्म राज्य के प्रमुख धर्म हैं। भारत की 1961 और 2011 की जनगणना के बीच, राज्य में हिन्दुओं की हिस्सेदारी 62% से घटकर 41% हो गयी, जबकि ईसाइयों की हिस्सेदारी 19% से बढ़कर 41% हो गयी।

मणिपुर की अर्थव्यवस्था मुख्य रूप से कृषि प्रधान है, जिसमें महत्त्वपूर्ण जलविद्युत उत्पादन क्षमता है। यह इम्फाल हवाई अड्डे के माध्यम से दैनिक उड़ानों द्वारा अन्य क्षेत्रों से जुड़ा हुआ है, जो पूर्वोत्तर भारत में दूसरा सबसे बड़ा हवाई अड्डा है। मणिपुर कई खेलों और मणिपुरी नृत्य की उत्पत्ति का घर है और इसे यूरोपीय लोगों को पोलो से परिचित कराने का श्रेय दिया जाता है। प्राचीन मणिपुरी लिपि में लिखित इस तरह के हजार से अधिक छोटे-बड़े हस्तलिखित ग्रन्थ अब तक प्राप्त हो चुके हैं। इन ग्रन्थों में विविध विषयों के सम्बन्ध में जानकारी दी गयी है, जैसे धर्म, प्रशासन, युद्धकला, खेल-कूद, औषधि, विभिन्न पहाड़ों का वर्णन तथा उनके सम्बन्ध में दिशा संकेत, वेश-भूषा, सामाजिक रीति-रिवाज, यौन-विज्ञान, आकाशीय ग्रह-नक्षत्र, सामाजिक सम्बन्ध तथा नैतिक शिक्षा आदि।

मणिपुर में सांस्कृतिक विभाजन की अवधारणा: धर्म और संस्कृति की इस पृष्ठभूमि में अगर हम मणिपुर की संस्कृति पर विचार करते हैं तो हिन्दू-पूर्व अथवा वैष्णव-पूर्व मणिपुरी संस्कृति और वैष्णवी मणिपुरी संस्कृति जैसे सांस्कृतिक विभाजन की अवधारणा की निरर्थकता स्वयं सिद्ध हो जाती है। इसे धर्म परिवर्तन तो कह सकते हैं लेकिन सांस्कृतिक परिवर्तन नहीं। अतः यह कहना कि मणिपुर की मीतै जाति द्वारा वैष्णव धर्म स्वीकार लेने के बाद और यहाँ के जनजातीय लोगों द्वारा ईसाइयत स्वीकार लेने के बाद इनकी संस्कृति में आमूल परिवर्तन हो गया, नितान्त भ्रामक बातें हैं। आज भी मीतै संस्कृति और जनजातीय संस्कृति किंचित बाह्य आचार-व्यवहारगत परिवर्तनों के साथ वही है जो थी या जैसी थी।

मणिपुर की सांस्कृतिक विशिष्टताएँ: वर्ण और वर्गहीन समाजः अगर आज भी मणिपुरी समाज में वर्ण और वर्ग-व्यवस्था नहीं है और इसके चलते अस्पृश्यता तथा वर्ग-संघर्ष जैसी बीमारियों से अब तक यह समाज मुक्त रहा है तो इसका श्रेय इसकी पारम्परिक सामाजिक संरचना के पीछे निहित व्यापक मानवीय दृष्टि को ही दिया जा सकता है। लगभग पिछले चार सौ वर्षों से निष्ठावान वैष्णव हिन्दू होते हुए भी मणिपुरी समाज शेष भारतीय हिन्दू समाज में व्याप्त जात-पात, ऊँच-नीच और छुआछूत जैसी सामाजिक बुराइयों से अपने को मुक्त रख सका है, यह कम गौरव की बात नहीं है।

आत्म-निर्भर स्वतन्त्र नारी समाज: मणिपुर की स्त्रियाँ घनघोर परिश्रमी होती हैं और हर तरह के काम करती हैं। इसलिए ये स्वतन्त्र और आत्म-निर्भर हैं। पर्दा-प्रथा जैसी सामाजिक बुराई यहाँ कभी थी ही नहीं। अँग्रेज शासन के विरुद्ध यहाँ की स्त्रियों ने युद्ध भी किया जो मणिपुर के इतिहास में नूपी लाल (दिसम्बर 2, महिला युद्ध) के नाम से प्रसिद्ध है।

समूह भावना: मणिपुरी समाज में सामाजिक सहयोगिता की भावना परम्परागत रूप से पायी जाती है। विवाह, जन्मोत्सव, श्राद्ध या किसी पर्व-त्योहार के अवसर पर एक-दूसरे से सहज भाव से आर्थिक और शारीरिक सहयोग देने की यहाँ पुरानी प्रथा है। यहाँ तक की विवाह के समय अगर लड़कीवालों की आर्थिक स्थिति अच्छी न हो तो लड़केवाले उसे आर्थिक सहयोग देना अपना कर्तव्य समझते हैं।

धार्मिक सहिष्णुता: मणिपुर में हिन्दू, जैन, सिक्ख, ईसाई, मुसलमान और कुछ थोड़े से बौद्ध भी रहते हैं। यहाँ की बहुसंख्यक मीतै जाति में (जिसने सत्रहवीं शताब्दी में विधिवत वैष्णव धर्म स्वीकार लिया है) एक छोटा-सा वर्ग ऐसा भी है जो अपने को वैष्णव या हिन्दू माने जाने की अपेक्षा मीतै माना जाना अच्छा समझता है और हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा तथा हिन्दू त्योहार मनाने के बदले अपने पारम्परिक देवी-देवताओं सनामही, पान्थोइबी आदि की पूजा करता है तथा परम्परागत स्थानीय त्योहार को मनाता है। इतने सारे विभिन्न धर्मावलम्बियों के रहते हुए भी इस राज्य में कभी धार्मिक विद्वेष और साम्प्रदायिक मन-मुटाव या तनाव नहीं हुआ, यह कम महत्त्व की बात नहीं है।

कला-प्रियता: मणिपुरी लोग जन्मजात कलाकार होते हैं। कलात्मकता इनके जीवन में रच-बस गयी है। नृत्य, संगीत, नाट्य, वाद्य, खेल-कूद, बुनाई-कढ़ाई से लेकर वास्तु और चित्रकला तक सब में इनकी सहज गति है। सम्भवतः इसीलिए महाभारत में इस जाति के लिए गन्धर्व शब्द का प्रयोग किया गया है।

वेश-भूषा और पहनावा: मणिपुरी लोग अपनी वेश-भूषा में सहज और सुरुचि-सम्पन्न हैं। पोशाक को लेकर यहाँ के लोगों के सम्बन्ध में जो सबसे उल्लेखनीय बात है, वह है हर अवसर और मौसम के अनुकूल अलग-अलग रंगोंवाले पोशाक का चुनाव।

पर्व-त्योहार और उत्सव: वृन्दावन के बाद सम्भवतः सबसे उल्लासपूर्ण रंगारंग होली मणिपुर में ही मनायी जाती है। स्थानीय भाषा में होली को 'याओसङ' कहा जाता है। वैष्णव–धर्मावलम्बी राधा-कृष्ण भक्त मणिपुरवासियों के लिए होली केवल एक त्योहार या उत्सव नहीं है, वरन् अपने परम आराध्य राधा-कृष्ण का भक्तिपूर्ण लीला-गान है। साथ ही रथयात्रा, सरस्वती पूजा, दीपावली, भाईदूज, बुद्ध पूर्णिमा, गोवर्धन पूजा, आदि त्योहार मणिपुर में धूमधाम से मनाये जाते हैं।

भारतीय संस्कृति के इस व्यापक परिप्रेक्ष्य में मणिपुरी संस्कृति को कोई अलग या इतर भारतीय संस्कृति मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। अधिक-से-अधिक भारतीय संस्कृति से इसकी भिन्नता या विशिष्टता उसी रूप में स्वीकार्य हो सकती है जिस रूप में व्यापक भारतीय संस्कृति में अन्तर्भूत होते हुए भी बँगला, मराठी, तमिल, पंजाबी या गुजराती संस्कृति के बारे में हम बातें करते हैं।

सन्दर्भ

1. https://www.census2011.co.in> state
2. https://statisticstimes.com > India

■

चतुर्दिक

कुछ आशंकाएँ, कुछ सम्भावनाएँ

रविभूषण

2014 में भाजपा की सरकार बनने के बाद देश का केवल राजनीतिक दृश्य ही नहीं, सामाजिक-सांस्कृतिक दृश्य भी बदल दिया गया है। ऐसी स्थिति पहले नहीं थी। सब कुछ सही-सलामत दिखाई देगा, पर हकीकत यह है कि कुछ भी सही-सलामत नहीं है। हम सब आशंकाओं के बीच हैं। इस वर्ष क्या कुछ अघटित घटित होगा या घटित में ही और इजाफा होगा? लोकतन्त्र और नेहरू पर हमला रुकेगा या बढ़ेगा? मणिपुर का कोई समाधान निकलेगा, संवाद कायम होगा, प्रधानमन्त्री वहाँ जाएँगे या नहीं? अडानी के सम्बन्ध में संसद में विचार होगा या नहीं?

लेखक जन संस्कृति मंच के राष्ट्रीय अध्यक्ष हैं।

+919431103960

ravibhushan1408@gmail.com

यह वर्ष राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का शताब्दी वर्ष और विश्व हिन्दू परिषद (विहिप) का 60वाँ वर्ष है। आर.एस.एस. की स्थापना 27 सितम्बर, 1925 को 'हिन्दू समुदाय को एकजुट करने और हिन्दू राष्ट्र की स्थापना' के लिए हुई थी। राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन में इसने ब्रिटिश राज का साथ दिया था। हेडगेवार इसके संस्थापक थे और 2009 से मोहन भागवत इसके सरसंघ चालक हैं। दत्तात्रेय पोशबोले सर कार्यवाह (महासचिव) हैं। इसकी शाखाएँ 73,117 हैं। इसके विशाल परिवार में इसके द्वारा उत्पन्न अनेक हिन्दुत्व संगठन हैं। पहले इसका राजनीतिक दल भारतीय जनसंघ था। अब भारतीय जनता पार्टी है। अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् (अभाविप) इसका छात्र-संगठन है। भारतीय मजदूर संघ (बी.एम.एस.) संघ परिवार का एक घटक है। प्रायः सभी क्षेत्रों में-किसान से लेकर नारी और युवक तक इसके संगठन हैं और सबके उद्देश्य समान हैं-हिन्दू राष्ट्र की स्थापना। इसके व्यावसायिक और पेशेवर अनेक संगठन हैं, भाजपा की एक युवा शाखा है-भारतीय जनता युवा मोर्चा। 'भारतीय किसान संघ' की तरह इसका 'भारतीय मजदूर संघ' भी है। भारतीय कलाकारों का संगठन 'संस्कार भारती', भारतीय रेलवे श्रमिकों का संघ 'भारतीय रेलवे मजदूर संघ', चिकित्सकों का संगठन 'राष्ट्रीय मेडिकोज संगठन', भारतीय वकीलों का 'अखिल भारतीय अधिवक्ता परिषद्', भारतीय पूर्व सैनिकों का 'अखिल भारतीय पूर्व सैनिक सेवा परिषद्' है। कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है, जहाँ संघ का अपना संगठन न हो। इससे जुड़े सदस्यों और लोगों को 'संघी' कहा जाता है। आर.एस.एस. के आर्थिक, सामाजिक, महिला, धार्मिक, क्षेत्रीय, शैक्षिक सामाजिक-जातीय, प्रवासी, शिशु संगठन हैं। यह एक महाजाल है, जिसे समझना सरल नहीं है। इसके धार्मिक संगठनों में विहिप, बजरंग दल (हनुमान ब्रिगेड), हिन्दू जागरण वेदिके, धर्मजागरण समिति, महाराष्ट्र स्थित राष्ट्रीय हिन्दू आन्दोलन, राष्ट्रीय सिख संगत, भारतीय बौद्ध संघ, मुस्लिम राष्ट्रीय मंच और हिन्दू राष्ट्र सेना है।

विश्व हिन्दू परिषद (विहिप) की स्थापना दूसरे सर संघ चालक गोलवलकर और एक समाचार एजेंसी 'हिन्दुस्थान समाचार' (1948) के संस्थापक शिवराम शंकर आप्टे, जिन्हें दादा साहब आप्टे भी कहा जाता है, ने हिन्दू आध्यात्मिक नेता चिन्मयानन्द सरस्वती के सहयोग से साठ वर्ष पहले 29 अगस्त, 1964 को की थी। विहिप का घोषित उद्देश्य 'हिन्दू समाज को संगठित करना, मजबूत करना और हिन्दू धर्म की सेवा और सुरक्षा करना है'। वीएचपी संघ परिवार समूह का एक प्रमुख सदस्य है। विश्व-भर में इस संगठन का सेवा-विस्तार है। इसके अन्तरराष्ट्रीय अध्यक्ष रवीन्द्र नारायण सिंह हैं

और आलोक कुमार एडवोकेट अन्तरराष्ट्रीय कार्यकारी अध्यक्ष हैं।

विहिप की युवा शाखा बजरंग दल है, जिसका नारा है 'सेवा, सुरक्षा, संस्कार और संस्कृति'।

8 अक्टूबर, 1984 को जन्मे इस संगठन के अपने 2 हजार 500 अखाड़े हैं। इसकी गुजरात शाखा सौन्दर्य प्रतियोगिता विरोधी आन्दोलन में सबसे आगे थी। बजरंग दल सोशल मीडिया पर भी सक्रिय है। सत्तारूढ़ भारतीय जनता पार्टी से सम्बन्ध के कारण इसके खिलाफ फेसबुक ने किसी प्रकार की कार्रवाई नहीं की क्योंकि 'बजरंग दल पर नकेल कसने से कम्पनी की भारत में व्यावसायिक सम्भावनाओं और उसके कर्मचारियों दोनों को खतरा हो सकता है।' राष्ट्र-विरोधी गतिविधियों में शामिल होने के कारण इस पर प्रतिबन्ध लगाने की माँग भी की गयी थी। दुर्गावाहिनी विहिप की महिला शाखा है। 1991 में स्थापित इस संगठन की संस्थापक अध्यक्ष साध्वी ऋतम्भरा हैं, जिन्होंने बाबरी मस्जिद ध्वंस के समय राष्ट्रीय स्तर पर प्रसिद्धि प्राप्त की थी। पिछले वर्ष 2024 में, प्रभात प्रकाशन ने इन पर एक पुस्तक प्रकाशित की है। 'साध्वी ऋतम्भरा और श्री राम जन्मभूमि आन्दोलन'।

क्या यह वर्ष शान्तिपूर्ण ढंग से व्यतीत होगा या हम सब एक अशान्त वातावरण में रहेंगे? कई आशंकाएँ हैं और इन सभी आशंकाओं के आधार विगत वर्ष की घटनाएँ हैं। आर.एस.एस. अपना शताब्दी वर्ष क्या खामोशी से गुजर जाने देगा, या देश-भर में इस अवसर पर विभिन्न आयोजन होंगे? इन आयोजनों का मकसद क्या होगा? मात्र गौरव गान या और कुछ? स्पष्ट कथन होगा या सांकेतिक? आर.एस.एस. के नियन्त्रण में सब कुछ है। उसके काम करने के तरीके, सैकड़ों हैं, जिन सब पर किसी एक व्यक्ति की दृष्टि नहीं जा सकती। ऐसा कोई राष्ट्रव्यापी संगठन नहीं है, जो उसके समानान्तर खड़ा हो।

1925 में ही भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का जन्म हुआ था। आर.एस.एस. और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का जन्म-वर्ष एक ही है। आर.एस.एस. की स्थापना के लगभग तीन महीने बाद भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना 26 दिसम्बर, 1925 को हुई थी। आज आर.एस.एस. के सांगठनिक फैलाव के समक्ष भारत की कम्युनिस्ट पार्टी कहीं खड़ी नजर नहीं आती। वैचारिक धरातल पर दक्षिणपन्थी संगठन और विचारधारा का जवाब मात्र वामपन्थी संगठन और विचारधारा है।

2014 में भाजपा की सरकार बनने के बाद देश का केवल राजनीतिक दृश्य ही नहीं, सामाजिक-सांस्कृतिक दृश्य भी बदल दिया गया है। ऐसी स्थिति पहले नहीं थी। सब कुछ सही-सलामत दिखाई देगा, पर हकीकत यह है कि कुछ भी सही-सलामत नहीं है। हम सब आशंकाओं के बीच हैं। इस वर्ष क्या कुछ अघटित घटित होगा या घटित में ही और इजाफा होगा? लोकतन्त्र और नेहरू पर हमला रुकेगा या बढ़ेगा? मणिपुर का कोई समाधान निकलेगा, संवाद कायम होगा, प्रधानमन्त्री वहाँ जाएँगे या नहीं? अडानी के सम्बन्ध में संसद में विचार होगा या नहीं? क्या राज्यसभा के सभापति अपना आचरण ठीक करेंगे? क्या मोदी-शाह की भाषा में शालीनता आएगी? 'इण्डिया' एकजुट रहेगा या बिखरेगा? अब तक भाजपा के जो तौर-तरीके रहे हैं, उनमें कोई बदलाव आएगा? क्या नरेन्द्र मोदी की ताकत घटेगी? आर.एस.एस. अपने शताब्दी वर्ष में जो भी कहेगा, करेगा, वह देश के लिए हितकर होगा या अहितकर? लोकतान्त्रिक और संवैधानिक संस्थाएँ क्या गुलामी के दौर से उबरेंगी? संसद परिसर में हम सबने जो 'सीन' देखा है, क्या उसकी पुनरावृत्ति नहीं होगी? भय का माहौल बढ़ेगा या कम होगा? विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका क्या आत्ममन्थन और आत्म-निरीक्षण के दौर से गुजरेंगी? संविधान के 75वें वर्ष में जिस प्रकार गृहमन्त्री द्वारा छह बार अम्बेडकर का नामोल्लेख कर उनका नाम लेने को 'फैशन' कहकर उन्हें अपमानित किया गया है, उस पर देश-भर में प्रतिक्रिया होगी या नहीं? दलित भाजपा को दलित-विरोधी रूप में देखेंगे या उसे हमदर्द और शुभेच्छु मानेंगे? देश के राजनीतिक दल क्या सचमुच लोकतन्त्र और संविधान की रक्षा के लिए सदैव एकजुट रहेंगे या उनके अपने-अपने निजी एवं दलीय स्वार्थ बने रहेंगे? प्रश्न उस गन्दगी की सफाई का है, जो घर से बाहर तक फैला दी गयी है। इसे स्वच्छ करने वाली शक्तियाँ कहाँ हैं? नरेन्द्र मोदी का अडानी-प्रेम घटेगा, बढ़ेगा या स्थिर रहेगा? सुप्रीम कोर्ट के पूर्व जस्टिस अरुण मिश्र ने अडानी के पक्ष में सभी फैसले दिये थे। अडानी के बन्दरगाह पर ड्रग्स पकड़ी गयी। कुछ भी नहीं हुआ। कॉरपोरेट-प्रेम और देश-प्रेम में अन्तर है। गोदी मीडिया सुधरेगा या मोदी-पथ पर बढ़ता जाएगा? किसी भी सवाल का कोई ठोस उत्तर नहीं है। नये वर्ष में जितनी आशंकाएँ हैं, वे शायद ही समाप्त हों क्योंकि भारत को जिस मार्ग पर ले जाया गया है, वहाँ से हटाकर नये मार्ग पर ले जाने वाली शक्तियाँ दिखाई नहीं देतीं। विचारधारात्मक लड़ाई भी नहीं हो रही। हालात कहीं अधिक गम्भीर हैं, और देश रसातल की ओर जा रहा है। सब कुछ मात्र कहने-भर को है। फासीवाद आ चुका है और उसके खिलाफ राष्ट्रीय स्तर पर अभी तक कोई मोर्चा कायम नहीं हुआ है।

2025 की भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। पिछले वर्ष के अन्तिम महीने में ही जो कुछ घटा है, उसे ध्यान में रखकर हम कुछ अनुमान कर सकते हैं कि आगामी समय कैसा रहेगा? सरकारें क्या करेंगी? नेताओं की स्वार्थपरता बढ़ेगी या जन-पक्षधरता? बार-बार संसदीय लोकतन्त्र के खतरे में होने और संविधान की रक्षा की बात कही जाती है, पर इसे बचाने वाली शक्तियों के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जाता। सरकार के क्रिया-कलापों से सुपरिचित होने के बाद भी किसी भी घटना विशेष पर की गयी प्रतिक्रियाएँ, राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री को लिखे जाने वाले पत्र, विविध व्यक्तियों और संगठनों द्वारा दिये गये विरोध-पत्रादि का अब विशेष अर्थ नहीं क्योंकि सरकार सभी प्रकार के विरोधों को दबाने, उसकी अनसुनी करने में कहीं अधिक निपुण हो चुकी है। अंकुश कहीं नहीं है। मर्यादा, शालीनता सबकी विदाई हो चुकी है। विपक्षी स्वरों को खामोश किया जा रहा है, संसद के भीतर भी और बाहर भी। विगत दस वर्ष में भारत बदल दिया गया है। सम्भावनाएँ शेष हैं। सब कुछ नष्ट नहीं हुआ है, पर नष्टकारियों के खिलाफ कहीं कोई राष्ट्रव्यापी आन्दोलन नहीं है। राहुल गाँधी ने किसी भी नेता से कहीं अधिक आर.एस.एस. और अडानी पर हमला किया है, पर अभी तक आर.एस.एस. और अडानी का कुछ भी अहित नहीं हुआ है। संसद में अडानी पर कहीं कोई बहस नहीं हुई है और ना होने की सम्भावना है। आर.एस.

एस., भाजपा और नरेन्द्र मोदी, सब राहुल गाँधी के विरुद्ध हैं क्योंकि वही एक सशक्त और सुदृढ़ आवाज हैं, जिसे खामोश करने, उसकी छवि विकृत करने के वर्षों से प्रयास जारी है। क्या काँग्रेस सहित भारत का कोई दल, क्षेत्रीय सहित राष्ट्रीय दल सचमुच लोकतन्त्र और संविधान की रक्षा के लिए कृतसंकल्प हैं? सभी राजनीतिक दल चुनाव-लीला में धँसे-फँसे हैं। भाजपा ने एक अनोखा माहौल रचा है, जिसमें चुनाव ही सब कुछ है क्योंकि उसमें जीत हासिल कर सत्ता प्राप्त की जाती है और सत्तासीन होकर कुछ भी किया जा सकता। जनता कुछ भी नहीं है, जो है, वह सत्ता है। जनता सत्ता-प्राप्त करने का एक माध्यम है, जिसकी अहम् भूमिका मात्र एक दिन, मतदान की है। इस वर्ष दिल्ली और बिहार में चुनाव होंगे। सारा ध्यान उधर बाँटा जाएगा। भाजपा को और प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी को विपक्ष से चिढ़ है। विपक्ष-मुक्त और काँग्रेस-मुक्त भारत की बात बहुत पहले से की जा रही है।

इस वर्ष संसद के तीन सत्रों–बजट, मॉनसून एवं शीतकालीन में संसद के भीतर के और परिसर के दृश्य शायद ही सुन्दर हों। भाजपा बहुमत में नहीं है, पर उसके क्रिया-कलाप मोदी-शाह की कार्य-पद्धति में न कोई अन्तर आया है और न उसके आने की कोई सम्भावना है। पिछले महीने संविधान की 75वीं वर्षगाँठ के अवसर पर सदन में लगभग डेढ़ घण्टे के अपने भाषण में जिस तरह काँग्रेस और नेहरू पर आक्रमण किया गया, कई बार झूठ कहा गया, वह बाद में भी न थमेगा, न रुकेगा। देश में जितने राजनीतिक दल हैं, उनमें सर्वप्रमुख आज भी काँग्रेस ही है। काँग्रेस ने अतीत में कम गलतियाँ नहीं की हैं और ये गलतियाँ प्रधानमन्त्री द्वारा बार-बार दुहरायी जाएँगी। उनके यहाँ विपक्ष का सम्मान नहीं है। विपक्ष का सम्मान लोकतन्त्र का सम्मान है।

भाजपा की विशेषता यह है कि जो आरोप उस पर लगाये जाते हैं, वह बड़े आसानी से उसे काँग्रेस पर लगा देती है। हिन्दुत्व की राजनीति एकरंगी राजनीति है, जो विविधता और बहुलता के विरुद्ध है। प्रधानमन्त्री ने अपने भाषण में कहा कि काँग्रेस ने 'विविधता में जहरीले बीज बोने के प्रयास किये।' संविधान में संघीय ढाँचे का जिक्र है, पर इसे कमजोर किया जा रहा है, जिन राज्यों में भाजपा और राजग की सरकार नहीं है, उनके प्रति सरकार का सौतेला रवैया है।

जो लोकतन्त्र और संविधान के विरोधी हैं, वे लोकतन्त्र और संविधान की बात करने, उसके प्रति अपनी आस्था प्रकट करने से नहीं चूकते। इससे एक भ्रम उत्पन्न किया जाता है कि वास्तविक अर्थों में संविधान और लोकतन्त्र के रक्षक वही हैं। कवियों, लेखकों, विचारकों एवं बुद्धिजीवियों की बातों का न तो सरकार पर प्रभाव पड़ता है और न जनता पर। जनता को बड़ी-बड़ी बातों से अधिक मतलब नहीं है। संविधान की सबसे अधिक अवमानना नरेन्द्र मोदी और भाजपा ने की है, पर कहा यह जा रहा है कि–'काँग्रेस ने निरन्तर संविधान की अवमानना की, उसके महत्त्व को कम किया, उसके साथ धोखेबाजी की।'

सही सच्ची बातें और सूचनाएँ जनजीवन तक नहीं पहुँच पातीं। मीडिया सरकार के साथ है। क्या ऐसा सचमुच कुछ शेष है, जिस पर आर.एस.एस. ने कब्जा न किया हो। अभी सबसे बड़ा जुमला 'गरीबी हटाओ' को कहा जा रहा है। पचास वर्ष पहले की घटना प्रधनमन्त्री नरेन्द्र मोदी को याद रहती है, पर वर्तमान की नहीं, प्रत्येक व्यक्ति को पन्द्रह लाख देने की जो बात उन्होंने कही थी, उसे अमित शाह ने ही 'जुमला' कहा था।

क्या यह वर्ष भी जुमलों और जुमलेबाजों का ही होगा?

अकादमिक संस्थाएँ नष्ट की जा चुकी हैं। विश्वविद्यालयों में कुलपति के पद पर विराजने वाले कई करोड़ देकर पद प्राप्त करते हैं और उनका आर.एस.एस. से जुड़ा होना भी आवश्यक है। क्या भारत की कोई संस्था सही अर्थों में बची हुई है या वह भुतैली छाया से बुरी तरह घिर चुकी है? जीवन सामान्य गति से जारी है, पर समाज के भीतर जो एक गहरा असन्तोष और छटपटाहट है, वह भविष्य में कौन-सा रूप ग्रहण करेगा, हमें नहीं मालूम। मुक्तिबोध ने 'अँधेरे में' कविता का शीर्षक पहले 'आशंका के द्वीप' रखा था। वह नेहरूकालीन भारत था। आज हम सब मोदीकालीन भारत में रह रहे हैं। आशंकाएँ अनेक हैं और ऐसा लगता है, कहीं कुछ भी हो सकता है। एक दहशत-भरा माहौल है। भारत का कोई नागरिक अपनी चिन्ताओं, समस्याओं, आपदाओं-विपदाओं को लेकर कहाँ जाये? उसकी सुनवाई कहाँ होगी? न्याय कहाँ मिलेगा? न्यायपालिका अपनी विश्वसनीयता खो रही है। अभी इलाहाबाद हाईकोर्ट के जज शेखर कुमार यादव ने जो आग उगली है, मुसलमानों को जिस प्रकार विहिप के विधि प्रकोष्ठ मंच से 'कठमुल्ला' आदि कहा है, उसके बाद फिर बच क्या जाता है! जनता हतवाक है, उसका एक बड़ा हिस्सा असमंजस और उधेड़बुन में है। महँगाई उसे मार रही है, बेरोजगार युवक परेशान हैं। चारों ओर रुक-रुककर हिन्दुत्व की लहरें उठ रही हैं, बार-बार मन्दिर-मस्जिद किया जा रहा है, साम्प्रदायिक सौहार्द्र नष्ट किया जा रहा है, सामाजिक ताना-बाना बिखर रहा है, यह सब रुकेगा या बढ़ेगा? इन्हें रोकने वाली शक्तियाँ कहाँ हैं? वे गर्भस्थ भी हैं या नहीं? एक सचेत भारतीय नागरिक आज कहीं अधिक चिन्ताकुल है। नये वर्ष के जश्न में डूबे हुए लोगों को इन सबसे मतलब नहीं है। वे सब अपने-अपने दड़बों में सुखी, सुरक्षित और सन्तुष्ट हैं। लेकिन हम और आप?

कभी भी सब कुछ नष्ट नहीं हो सकता, गहरे अन्धकार में एक तीली का जलना भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। सम्भावनाएँ हैं और रहेंगी। प्रतिरोध कभी नष्ट नहीं होगा, पर यह समय केवल शाब्दिक प्रतिरोध का नहीं है। कविगण यह सोचकर प्रसन्न और हर्षित नहीं हों कि वे प्रतिरोध की कविताएँ लिख रहे हैं, जो धमाका पैदा करेंगी। शब्द कार्य रहित होकर अर्थहीन है। शब्द की अर्थवत्ता और विश्वसनीयता लेखक और वक्ता के सकर्मक कर्म से जुड़ी है। सम्भावनाओं को बचाना ही नहीं, बढ़ाना और उसे एक मुकाम तक पहुँचाना हमारे समय का एक आवश्यक कार्यभार है। सबका कार्य-क्षेत्र अलग है। राजनीतिक दल ईमानदारी से अपना कार्य करें, कवि, लेखक, सम्पादक, आलोचक, संस्कृतिकर्मी, बुद्धिजीवी अपने-अपने क्षेत्र में पहले से अधिक सक्रिय हों। यह आग बुझाने का नहीं, आग जलाने का समय है। आशंकाएँ मिटेंगी, सम्भावनाएँ बढ़ेंगी और यह सब हमारे कर्म पर निर्भर करता है।

■

कारवाँ-ए-हबीब में शामिल होने का मतलब

राजेश कुमार

तीसरी घण्टी

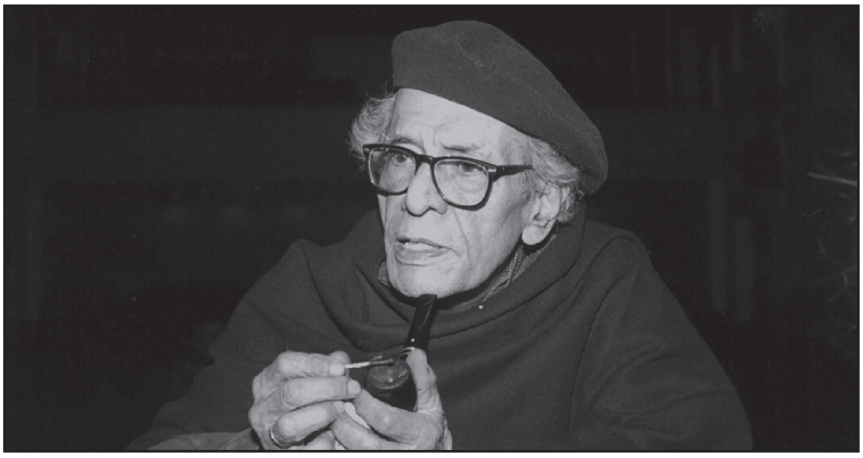

अन्तिम दिनों में हबीब तनवीर ने हिन्दू साम्प्रदायिकता के अन्दर से फासीवाद की आती हुई आहटों को पहचान लिया था। जहाँ बड़े-बड़े स्थापित रंगकर्मी लालच और भय से सत्ता की शरण में जाने लगे थे, या अपनी प्रगतिशीलता को बचाए रखने के लिए पौराणिक-मिथकीय-पाश्चात्य नाटकों की खाल ओढ़ने लगे थे, हबीब तनवीर लोगों के बीच ऐसे मिथक को सामने लाते हुए दिखते हैं जो न किसी बिम्ब-प्रतीक का सहारा लेता हुआ दिखता है, न दर्शकों को किसी भाववादी रहस्य में भटकाता है।

हबीब तनवीर के जन्मशती को मनाने को लेकर कुछ संकीर्ण संस्थानों के सामने एक धर्म-संकट खड़ा हो जा रहा है, वह है उनका धर्म। बहुत सारी सरकारी और अन्दर से धर्म को लेकर संकीर्ण संस्थाएँ हबीब तनवीर पर कोई आयोजन करने से इसलिए संकोच कर रही हैं कि हबीब तनवीर मुसलमान हैं। और जिस तरह की राजनीतिक हवा फिलहाल देश में बह रही है, उसमें किसी अल्पसंख्यक समाज के नाटककार, निर्देशक को याद करने से उनके राजनीतिक प्रयोजन में कोई फायदा नहीं होने वाला है, इस बात को अच्छी तरह से जानते हैं। वे वहीं हाथ लगाते हैं, जहाँ उन्हें राजनीतिक हित दिखाई देता है। और हबीब तनवीर अपने रंगकर्म में जिस विचारधारा को प्रमुखता से लाते थे, वो तो उनके विरुद्ध ही जाता था। इसलिए संकीर्ण धार्मिक विचारधारावाले पहले तो परहेज करते ही थे, आज भी एक दूरी बनाकर रखते हैं। लेकिन हबीब तनवीर आज की तारीख में केवल एक व्यक्ति नहीं, एक विचारधारा के रूप में हमारे सामने खड़े हैं। हबीब तनवीर को याद करने का मतलब है, रंगमंच की एक दृष्टि को याद करना है। शुरुआती दौर में वे इप्टा से जुड़े थे, कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इण्डिया की विचारधारा से काफी हद तक सहमत थे, लेकिन सांस्कृतिक मुद्दे पर बी.टी. रणदिवे और पी.सी. जोशी के बीच आजादी के बाद जिस तरह के अन्तर्विरोध देखने को मिले, उससे आहत होकर कुछ ही वर्षों में अपने को अलग कर लिया था। उन्होंने अपने रंगकर्म को पार्टी से अलग तो किया परन्तु विचारधारा से जिन्दगी-भर जुड़े रहे। वे जिन्दगी-भर रंगकर्म से वही कार्य करते रहे जो कम्युनिस्ट पार्टी का कोई राजनीतिक आदमी अपनी राजनीति से करता है। केवल माध्यम में अन्तर था। बहुत सारे रंगकर्मी जो इप्टा को छोड़कर फिल्म या किसी अन्य माध्यमों में गये, उनमें अधिकतर विचारधारा को भी छोड़कर चले गये लेकिन हबीब तनवीर के साथ ऐसा नहीं था। भले बाद के दिनों में वे किसी राजनीतिक पार्टी से सीधे रूप से नहीं जुड़े, पर वैचारिक रूप से हमेशा से वाम विचारधारावाली पार्टियों से उनका किसी-न-किसी रूप में सम्बन्ध रहा। जिस तरह के वे नाटक करते थे या तकरीरों में जो विचार रखते थे, उसे देखें तो स्पष्ट हो जाता है। आज उनकी जन्मशती पर भले कुछ दक्षिणपन्थी विचारधारा वाले अपने हित के लिए उनका अधिग्रहण करने की कोशिश करें, हबीब तनवीर कभी भी दक्षिणपन्थ की तरफ खड़े नहीं हुए। न व्यावहारिक स्तर पर न सैद्धान्तिक रूप से।

हबीब तनवीर सन् 1955 के आस-पास जिस तरह का रंगमंच तैयार कर रहे थे, उसी समय अम्बेडकर भी एक अलग तरह की सांस्कृतिक आन्दोलन की संकल्पना में लगे हुए थे। भले अम्बेडकर और हबीब तनवीर

लेखक भारतीय रंगमंच को संघर्ष के मोर्चे पर लाने वाले अभिनेता, निर्देशक और नाटककार हैं।
+919453737307
rajeshkr1101@gmail.com

के आपस में कभी मिलने का कोई ऐतिहासिक प्रमाण कहीं पढ़ने या देखने को नहीं मिलता है, पर एक संयोग देखने को मिलता है कि जिन दिनों हबीब तनवीर 'आगरा बाजार' और 'माटी की गाड़ी' में आम जनता को अपने थिएटर से जोड़ रहे थे, नाचा के लोक, दलित और पिछड़े समाज के कलाकारों को अपनी अभिव्यक्ति के लिए मंच पर उतार रहे थे, अम्बेडकर भी सांस्कृतिक आन्दोलन को एक नयी दिशा देने में लगातार प्रयत्नशील दिखाई देते हैं।

सन् 1974 में जब उन्होंने विजय दान देथा की राजस्थानी कहानी 'फितरती चोर' को आधार बनाकर 'चरणदास चोर' नाटक लिखा तो उसका केवल रूपान्तरण ही नहीं किया बल्कि उस वक्त का जो समय था उसे भी दर्ज किया। जिस वक्त यह नाटक लिखा गया था, राजनीतिक और सांस्कृतिक रूप से अत्यन्त उथल-पुथल का दौर था। लोगों ने आजादी के बाद जो स्वप्न देखे थे, कहीं-न-कहीं टूटते नजर आ रहे थे। नेहरू के समाजवाद से लोगों का जो मोहभंग हो रहा था, सड़कों पर उसका प्रतिरोध दिख रहा था। किसान और मजदूरों की माँग को जिस तरह सत्ता द्वारा अमानुषिक ढंग से दबाया जा रहा था, उनका प्रतिकार देश-भर में देखने को मिल रहा था। सत्ता द्वारा किए गया भ्रष्टाचार किसी से छिपा नहीं था। जितना वे छिपाने की कोशिश करते थे, उतना और एक्सपोज हो रहे थे। जिसका परिणाम था कि लोग सड़कों पर उतरने लगे थे। छात्र-बेरोजगार नौजवान स्कूल-कॉलेज छोड़कर सत्ता से सीधा मुकाबला करने गली-चौराहों पर मोर्चा लगाने लगे थे। इन जन आन्दोलनों से रंगकर्म अपने को अलग नहीं कर सका था। हबीब तनवीर का नाटक 'चरणदास चोर' केवल कहानी नहीं दिखाता है। राजस्थानी कहानी को छत्तीसगढ़ी परिदृश्य में हबीब तनवीर ने उतारा था। इसमें अभिनय करने वाले अधिकतर वहीं आस-पास के नाचा के लोककलाकार थे। हमारे समाज में वर्ण के आधार पर उच्च वर्ण द्वारा भेद-भाव और गैर-बराबरी का व्यवहार किया जाता है, हबीब तनवीर उसे भलीभाँति महसूस करते थे। और इस सच्चाई को इनकार नहीं करते थे। उनकी संस्था 'नया थिएटर' के अधिकतर कलाकार गाँवों के थे। वे छत्तीसगढ़ की लोक-शैली 'नाचा' के कलाकार थे। साथ में किसान भी थे। खेती के दिनों में वे अपने गाँवों में खेती-बाड़ी का काम करते थे। वहाँ से जब निपटते थे तो 'नया थिएटर' में आकर हबीब तनवीर के साथ नाटक करने लगते थे। नाचा के सारे कलाकार शेड्यूल कास्ट या पिछड़ी जाति के थे, इस तथ्य से कोई इनकार नहीं कर सकता है। अम्बेडकर की विचारधारा से प्रभावित होकर महाराष्ट्र और उत्तर प्रदेश में अछूतानन्द हरिहर के नेतृत्व में दलित थिएटर की जो धारा दिखाई देती है, उसका प्रभाव हबीब तनवीर के यहाँ स्पष्ट दिखाई देता है। नाचा के कलाकारों से हबीब तनवीर 'चरनदास चोर' नाटक सतनामी समाज के परिदृश्य में करते हैं तो इन कलाकारों के लिए कथा को रूपायित करने में कोई असहजता महसूस नहीं होती है। क्योंकि उनके 'नाचा' के अधिकतर कलाकार सतनामी समाज के हैं। छत्तीसगढ़ में गुरु घासीदास ने सतनामी समाज की स्थापना की थी। इस समाज में अधिकतर वही लोग हैं जो सवर्ण समाज से उपेक्षित हैं, उनके दुर्व्यहार के शिकार हैं। गुरु घासी दास ने भक्तिकाल के कबीर और रैदास की तरह पूरे छत्तीसगढ़ में जातीय भेदभाव और छूआछूत के विरोध में शेड्यूल कास्ट और पिछड़ी जाति को एकजुट करते हुए बराबरी के पक्ष में एक वृहद् जन-आन्दोलन खड़ा किया था। हबीब तनवीर के इस नाटक में उसी सतनामी समाज की व्याख्या है। उस नाटक में जो गीत थे या लोक-कलाकारों का पंखी नृत्य वे भी सतनामी समाज से अनुप्रेरित थे। इस नाटक के माध्यम से सत्ता में व्याप्त भ्रष्टाचार भी खुलकर सामने आता है जो अपने समय को प्रतिबिम्बित तो करता ही है, सत्ता के चरित्र को नंगा भी करता है। यह संयोग नहीं है कि रंगमंच की मुख्यधारा से जहाँ समाज के वंचित-उत्पीड़ित-दलित चरित्र दूर-दूर तक नहीं दिखते हैं, हबीब तनवीर के नाटकों में प्रमुखता से अपनी जगह बनाते हुए दिखते हैं। आँचलिक बोली को जहाँ निम्न किरदारों और स्त्रियों के लिए आरक्षित रखते हैं, हबीब तनवीर 'गाँव का नाम ससुराल, मोर नाम दामाद', 'बहादुर कलारिन' और 'हिरमा की अमर कहानी' जैसे नाटकों में छत्तीसगढ़ी बोली का चयन कलाकारों के संवाद के लिए किया। यह प्रयोग कहीं से भी उनके चरित्र के महत्त्व को निम्न नहीं कर रहा था। भाषा के बराबर बोली को उन्होंने लाया और साहित्य में उचित सम्मान दिया। अम्बेडकर के जिस ट्रेण्ड को स्वीकारने में वामधारा का रंगमंच स्वीकारने को तैयार नहीं था, हबीब तनवीर काफी हद तक एक्सेप्ट करने की दिशा में बढ़ते हुए दीखते हैं। वे अपने नाटकों में कभी भी वर्ण-जाति के सवालों को उठाने में संकोच नहीं दिखाते हैं। जहाँ वामधारा से जुड़े लोग नाटकों में एक पोलिटिकल लाइन के तहत जाति जैसे प्रश्न से बचते हुए दिखते हैं या मुख्यधारा के रंगकर्मी इसे अस्पृश्य मानकर अपने को इससे दूरी रखते रहे हैं, हबीब तनवीर बार-बार जाति से जुड़े शोषण-दमन और उसके प्रतिरोध में उठे स्वरों को नाटक के विभिन्न रूपों में लाते रहे हैं। जिन दिनों मण्डल आयोग की देश-भर में धधक थी, आरक्षण के विरोध में सत्ता और सवर्ण जाति के समर्थन से देश को अराजक दशा में ठेला जा रहा था, हबीब तनवीर इस दावानल को शायद पहले ही भाँप गये थे। उन्हें लग गया था कि इस सवाल पर सांस्कृतिक रूप से हस्तक्षेप करने की जरूरत है, अन्यथा धर्म को आगे लाकर वर्णवादी मानसिकता वाले कोई विकृत खेल सकते हैं।

बाबरी मस्जिद के टूटने के बाद देश-भर में राजनीति ही नहीं संस्कृति के क्षेत्र में ध्रुवीकरण दिखाई देने लगा था। मुख्यधारा का रंगमंच ने इस मुद्दे पर जिस तरह की चुप्पी ली थी, वो इशारा कर रहा था कि वे किधर हैं? भले वे खुलकर विरोध में कुछ नहीं बोल रहे थे, लेकिन उनकी तटस्थता और जिस तरह का रंगकर्म कर रहे थे, उनकी पक्षधरता स्पष्ट हो रही थी। बाजारवाद और उदारवाद ने जिस तरह रंगमंच को सरकारी अनुदान और ग्राण्ट पर आश्रित कर लिजलिजा और लाचार की दिशा में लाकर खड़ा कर दिया था, ऐसे में एक आवाज थी जो हर तरफ सुनाई दे रही थी वह हबीब तनवीर की थी। जिस्मानी स्तर पर वे कमजोर हो गये थे, धीरे-धीरे चलते थे लेकिन इरादों से बुलन्द थे। अकड़ कर चलते थे। जुबान में कोई लड़खड़ाहट नहीं थी। जो बोलते थे, साफ बोलते थे। स्पष्ट जुबान में। पाइप खींचकर जब धुआँ छोड़ते थे तो वह केवल धुआँ ही नहीं होता था, चिनगारियाँ भी छिटकती नजर आती थीं।

9 अगस्त, 2003 को हबीब तनवीर अपने नया थिएटर के साथ मध्य प्रदेश की सद्भावना यात्रा पर निकले थे। उनकी योजना मध्य प्रदेश के बीस शहरों में असगर वजाहत के नाटक 'जिस लाहौर नहीं देख्या' और छत्तीसगढ़ी लोक नाट्य 'नाचा' के 'पोंगा पण्डित उर्फ जमादारिन' को प्रतिदिन एक साथ मंचित करना था। अर्थात् वे इस रंगयात्रा में साम्प्रदायिकता और ब्राह्मणवाद दोनों पर एक साथ हमला करना चाहते थे। अमूमन लोग साम्प्रदायिकता पर तो हमला बोलते हैं, ब्राह्मणवाद से बचने की कोशिश करते हैं। आज भी कोई हिम्मत नहीं कर पाता है। उन दिनों हबीब तनवीर जब 'जिस लाहौर नहीं देख्या' करते थे, उसे देखकर संघ परिवार की सेना को कोई आपत्ति नहीं होती थी, बल्कि नाटक में मुस्लिम कट्टरता देखकर उन्हें सन्तोष होता था। जहाँ 'पोंगा पण्डित' शुरू होता, उसमें ब्राह्मणवाद पर पड़ते चुटीले व्यंग्य और प्रहार से तिलमिला उठते थे। कुर्सियाँ फेंकी, पाउच फेंका। कलाकारों को चोट आयी। हबीब तनवीर के हाथों से माइक छीन ली और हाथापाई पर उतर आये। भाजपा के नेताओं का बयान आया कि पूरे प्रदेश में हबीब तनवीर के नाटक नहीं होने देंगे। लेकिन हबीब तनवीर ने भी तय कर लिया था कि जब तक जीवित रहेंगे साम्प्रदायिकता, धार्मिक कट्टरता और ब्राह्मणवादी सत्ता के खिलाफ लड़ते रहेंगे। देश-भर में जहाँ से उन्हें नाटक करने बुलाया जाता था, 'नया थिएटर' की पूरी टीम के साथ रवाना हो जाते थे। उनका रंगकर्म केवल राजधानी, महानगरों तक ही सीमित नहीं था, वे देश के छोटे-छोटे शहरों, कस्बों, दूर-दराज के गाँवों तक में जाया करते थे। वे पूरे देश में एक सांस्कृतिक चेतना फैला देना चाह रहे थे। उनके इस मुहिम में न सत्ता कोई

अड़चन डाल सका, न बढ़ती हुई उम्र और न किसी प्रकार की कोई बीमारियाँ। बल्कि अन्तिम दिनों में वे कुछ ज्यादा ही मुखर हो गये थे।

अन्तिम दिनों में हबीब तनवीर ने हिन्दू साम्प्रदायिकता के अन्दर से फासीवाद की आती हुई आहटों को पहचान लिया था। जहाँ बड़े-बड़े स्थापित रंगकर्मी लालच और भय से सत्ता की शरण में जाने लगे थे, या अपनी प्रगतिशीलता को बचाये रखने के लिए पौराणिक-मिथकीय-पाश्चात्य नाटकों की खाल ओढ़ने लगे थे, सत्ता से सीधे आँख मिलने से डरने लगे थे, हबीब तनवीर लोगों के बीच ऐसे मिथक को सामने लाते हुए दिखते हैं जो न किसी बिम्ब-प्रतीक का सहारा लेता हुआ दिखता है, न दर्शकों को किसी भाववादी रहस्य में भटकाता है। 'एक औरत हिपेशिया थी' और रवीन्द्र नाथ टैगोर का बांग्ला नाटक 'विसर्जन' जिसे 'राजरक्त' नाम से हबीब तनवीर ने अपने रंगयात्रा के अन्तिम दौर में किया था, दोनों नाटक दर्शकों को आने वाले संक्रमण काल से सचेत करने वाला प्रयास था। हिपेशिया एक ऐसी चरित्र थी जो नास्तिक थी, विज्ञान की शिक्षक होने के कारण धर्म की जड़ता और अन्धविश्वास पर निरन्तर प्रहार कर रही थी। लोगों को अपने तर्कों से सचेत करने की कोशिश कर रही थी तो चर्च के पादरियों द्वारा फतवे जारी करने पर धर्मान्ध भीड़ किस तरह हिपेशिया की मॉब लिंचिंग कर देती है, इसे देखकर किसी को भ्रम नहीं होता है कि यह किसी यूरोप की घटना है। लोगों को अपने देश में आये दिन अल्पसंख्यकों के साथ हो रही मॉब लिंचिंग का स्मरण दिला देती है। देखने वालों को अनायास दादरी के अखलाक के साथ देश-भर में जुनैद की तरह दर्जनों भीड़ द्वारा सुनियोजित और हिन्दुत्ववादी संघटनों की घटनाएँ बरबस आँखों के सामने नजर आ जाती हैं। वैसा ही दृश्य 'राजरक्त' में बलि का विरोध करने पर पुरोहित-वर्ग किस तरह धर्म की आड़ में सत्ता को पलटने का कुचक्र रचता हुआ दिखता है।

हबीब तनवीर इस तरह के नाटक अनायास नहीं करते थे। इसके पीछे एक सचेत संस्कृतिकर्मी का दिमाग चल रहा था। जब वे ऐसे नाटक कर रहे थे तो ऐसा नहीं था कि उनके पीछे एक बड़ा सांस्कृतिक जत्था था। न किसी राजनीतिक दल का खुलकर समर्थन था। हबीब तनवीर को देश की अवाम पर भरोसा था। वे जहाँ भी जाते थे, वहाँ की जनता उनके साथ हो लेती थी। बड़े-बड़े साहित्यकार, चित्रकार, संगीतकार उनके समर्थन में होते थे। इसलिए जब भी कोई प्रतिगामी शक्ति हबीब तनवीर के विरोध में खड़ी होती थी, संस्कृतिकर्मियों का एक बड़ा जत्था मोर्चे पर आकर खड़ा हो जाता था।

आजादी के बाद संस्कृति के क्षेत्र में हबीब तनवीर का कारवाँ एक अकेला उदाहरण है जो उनके जाने के बाद भी देश-भर में घूम-घूमकर एक ऐसा रंग आन्दोलन खड़ा कर रहा है जो वास्तविक रूप में जनता का नाटक है। इस आन्दोलन में पार्टी लाइन पर विषय का चयन नहीं होता है बल्कि सम्पूर्ण रूप से सामने आता है। इसमें अगर वर्ग का सवाल आता है तो वर्ण भी।

कारवाँ-ए-हबीब आज बुद्ध-कबीर-रैदास और अम्बेडकर की बौद्धिक चेतना के साथ आज भी फासीवाद से एक कलात्मक संग्राम कर रहा है जो सार्थक और प्रासंगिक है। किसी को भी इससे जुड़ने का यही एक वाजिब तर्क है।

■

प्रतिबद्धता का क्षरण

जय प्रकाश

अक्सर विचारधारात्मक प्रतिबद्धता के विरुद्ध तर्क दिया जाता है कि लेखक को विचारधारा से नहीं, जीवन से प्रतिबद्ध होना चाहिए। मुक्तिबोध को पढ़कर यह विश्वास पुख्ता होता है कि मार्क्सवादी प्रतिबद्धता और जीवन-जगत के प्रति मानवीय प्रतिबद्धता में तात्त्विक अन्तर नहीं है। मुक्तिबोध लेखकीय आचरण की दृष्टि से मार्क्सवादी प्रतिबद्धता का मॉडल पेश करते हैं। उन्होंने 'सेठियाल पत्रिकाओं' में छपने से इनकार किया। दूसरी ओर, अपनी कविताओं में और गद्य-लेखन में वह निरन्तर बहस करते रहे, जग से और अपने-आपसे।

लेखक हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक हैं।
+919981064205
jaiprakash.shabdsetu@gmail.com

पिछले तीन दशकों के दौरान हिन्दी साहित्य-जगत में विचारधारात्मक सम्बद्धता और उससे प्रेरित ध्रुवीकरण समाप्त हो गया-सा जान पड़ता है। एक किस्म की बहुध्रुवीयता इधर विकसित हुई है जिसमें वैचारिक अपकेन्द्रण के बजाय विचारधारा के आग्रह से मुक्त सुविधाजनक गुटबन्दी दिखाई देती है; बल्कि लोकप्रियता का मिथक इस कदर हावी है, और व्यक्ति-केन्द्रिकता का ऐसा बोलबाला है, कि लगता है प्रत्येक लेखक अपने-आपमें एक गुट बन चुका है। आत्म-गोपन अब वर्जनीय क्रिया है, और आत्म-प्रक्षेपण लेखकीय आचरण में सर्वथा सहज स्वीकार्य। सोशल मीडिया में होड़ मची है 'अपने होने को प्रकाशित' करने की। तकनीक की प्रभुता के आगे नतमस्तक लेखक उस पर आश्रित सोशल मीडिया के 'कीर्ति-व्यवसाय' (मुक्तिबोध का शब्द) के फेर में अपनी लेखकीय स्वतन्त्रता सहर्ष गँवाये बैठा है। कैसी विडम्बना है कि सोशल मीडिया उसे स्वतन्त्र होने के सुखाभास से भर देता है, लेकिन सुखान्धता ऐसी कि लेखक को मुक्ति का, विचारधारा से भी मुक्त होने का, एहसास देती है। तकनीक ने विचारधारा की जगह ले ली है–बल्कि तकनीक स्वयं विचारधारा बन बैठी है। तकनीक यदि मुक्त करती है तो साथ-ही-साथ वह एक नये पाश में बाँधती भी जाती है। विचारधारा से मुक्ति के भ्रम में लेखक तकनीक की कारा में कैद है, और उसे इसका भान तक नहीं है।

नतीजा यह है कि विचारधारा पर आधारित लेखक-संगठनों की ऊर्जा चुकने लगी है। उनमें अब प्रायः बुजुर्ग साहित्यकार रह गये हैं, युवा उनसे किनारा कर रहे हैं। ज्यादातर नये लेखकों की सोच और सृजन-व्यवहार में विचारधारा का आग्रह अगर पूरी तरह से गायब नहीं हुआ तो अत्यन्त क्षीण अवश्य हो चला है। अजीब बात है कि हिन्दी में समान विचारधारा से प्रेरित तीन लेखक संगठनों के बावजूद विचारधारा को लेकर उदासीनता बढ़ती गयी है। स्वयं संगठनबद्ध लेखकों के बीच विचारधारा की बात कम ही होती है। कम-से-कम अस्सी के दशक की तरह का वातावरण तो नहीं ही है जब वर्गसंघर्ष, वर्गबोध, पक्षधरता, प्रतिबद्धता, डिक्लास होना जैसी शब्दावली राजनीतिक कार्यकर्ताओं के वार्तालाप में ही नहीं, रचनाकारों के पारस्परिक संवाद में भी प्रचलित थी। तब यथार्थवाद और कलावाद के द्वैत में साहित्य को देखने-जाँचने की परिपाटी चलन में थी जो रचना के सौन्दर्य के प्रति दो भिन्न दृष्टिकोणों को ही नहीं, विचारधारा के प्रति आग्रह या अनाग्रह को भी प्रकट करती थी। साहित्य के वाचाल आन्दोलनों का युग बीत चुका था लेकिन प्रगतिशील आन्दोलन की प्रखर उपस्थिति और उसके समानान्तर साहित्य में स्वायत्तता के मुखर स्वर ने परिदृश्य को जीवन्त बनाये रखा था।

यह सब इसलिए याद आता है कि आज नव लेखन में विचारधारा के प्रति उदासीनता ही नहीं, उसे लेकर तिरस्कार का भाव भी दिखाई देता है। यह प्रवृत्ति 1990 के बाद शुरू हुई और क्रमशः प्रभावी होती गयी। तब के युवा लेखकों में विचारधारा और लेखक संगठनों से जुड़ने की ओर सहज रुझान था। अस्सी के दशक में प्रगतिशील लेखक संघ अत्यन्त सक्रिय था। लेकिन जनवादी लेखक संघ और जन संस्कृति मंच का भी गठन हो चुका था। वाम विचारधारा वाले तीन लेखक संगठनों का होना आन्तरिक विचारधारात्मक संघर्ष का नतीजा था अथवा रणनीतिक या कार्यनीतिक भेद का परिणाम–इस बहस में न जाएँ तो भी इतना स्पष्ट है कि लेखक संगठनों से जुड़ने का अर्थ विचारधारा के जरिये जीवन-बोध और वैचारिक दृष्टि अर्जित करना था। संगठनों से असम्बद्ध या विचारधारा के विरोधी लेखकों का समूह था जो साहित्य के सामाजिक मूल्य के बजा; सौन्दर्य-मूल्य का आग्रही था। जिस तरह शीतयुद्ध के दौर में वैचारिक ध्रुवीकरण के बीच व्यक्ति-स्वातन्त्र्यवादी लेखकों के छोटे-से समूह 'परिमल' ने नयी कविता आन्दोलन का परचम लेकर प्रगतिशील साहित्य के विरुद्ध

मोर्चा खोला था, वैसे ही अस्सी के दशक में 'पूर्वग्रह' पत्रिका से जुड़े साहित्यकारों का समूह साहित्य की स्वायत्तता और वैचारिक बहुलता का विचार लेकर सक्रिय था।

'परिमल' ने व्यक्ति स्वातन्त्र्य की बहस का छोर पकड़कर वामपन्थी-प्रगतिवादी साहित्य के विरुद्ध रस्साकस्सी शुरू की थी। ध्रुवीकरण के दौर में क्षणवाद, भोगा हुआ यथार्थ, अनुभव की प्रामाणिकता और लघु मानव के व्यक्तिवादी दर्शन से पोषित नयी कविता की आड़ लेकर प्रगतिवाद पर मानवीय गरिमा और व्यक्ति की स्वतन्त्रता को नष्ट करने का आरोप लगाते हुए आक्रमण किया जा रहा था। एक तरफ रामविलास शर्मा खड़े थे जिन्होंने प्रत्युत्तर में न सिर्फ नयी कविता की सैद्धान्तिकी को, बल्कि समूची नयी कविता को खारिज कर दिया, दूसरी ओर मुक्तिबोध ने नयी कविता में एकाधिक धाराओं के सह-अस्तित्व को स्वीकार किया और 'तार सप्तक' से जुड़े उसके प्रगतिशील पक्ष का समर्थन करते हुए उसकी व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों के खिलाफ संघर्ष किया। कथा-साहित्य में भी नयी कहानी की मध्यवर्गीय आत्मकेन्द्रिकता के बरअक्स गहरे जीवन-बोध और व्यापक मानवीय सरोकारों से सम्पृक्त एक दूसरी धारा सक्रिय थी जिसका साक्ष्य भीष्म साहनी, शेखर जोशी, मार्कण्डेय, अमरकान्त, परसाई और स्वयं मुक्तिबोध की कहानियाँ देती हैं।

उस दौर का वैचारिक संघर्ष अभूतपूर्व है। साहित्य पर विचार का दबाव तब इतना प्रबल था कि उससे नयी कविता या नयी कहानी के अलावा अकविता, अकहानी, बीट कविता, नकेनवाद, प्रतिबद्ध कविता, सहज कविता, भूखी पीढ़ी, विद्रोही कविता, सचेतन कहानी, सहज कहानी, सक्रिय कहानी आदि न जाने कितने क्षणजीवी आन्दोलन फूट पड़े। हालाँकि सच तो यह है कि इन्हें साहित्य के भीतर से उपजे आन्दोलन माना जाता है लेकिन ये समाज और साहित्य की स्वाभाविक ऐतिहासिक गति से नहीं, आधुनिकतावाद की ह्रासोन्मुख विचारधारा की कोख से निकले थे और अपनी विद्रोही मुद्रा, तात्कालिकता और स्मार्टनेस के चलते, चर्चा में आने के लिए फैशन के तौर पर उदित हुए थे। इसलिए उनमें चुस्ती और तेवर तो था, अनुभव की जीवन्तता, सान्द्रता और सघनता नहीं थी; न ही उनके वैचारिक दृष्टिकोण में स्पष्टता, सोद्देश्यता और अनुशासन था। उनकी व्यक्तिवादी अराजकता और निषेधात्मक रुझान चित्ताकर्षक था लेकिन उनमें सच्चा जीवन-बोध नहीं था। व्यक्तिवाद का यह गुणधर्म उन्हें नयी कविता और नयी कहानी से उत्तराधिकार में मिला था; हालाँकि नयी कविता और नयी कहानी के पास सुचिन्तित वैचारिकी थी जो अस्तित्ववाद और क्षणवाद की यूरोपीय दार्शनिक धारणाओं से और शीतयुद्ध की अमेरिकी रणनीति से प्रेरित थी। क्षणजीवी आन्दोलनों के पास तो वह भी नहीं था। वे विचारधारा-विमुख, इसलिए दिशाहीन थे।

पचास के दशक में 'काँग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम' संस्था और 'थॉट' पत्रिका की आड़ में वैचारिक मोर्चे पर अमेरिकी विचारधारा की तैनाती के निहितार्थों को मुक्तिबोध ने समझ लिया था और 'नया खून' में टिप्पणी लिखी थी। अमेरिकी पूँजीवाद की विचारधारा से प्रेरित नयी कविता को उन्होंने 'शीतयुद्ध की राजनीति की सांस्कृतिक शाखा' करार दिया था। 1960 के बाद नयी कविता की ऊर्जा यद्यपि क्षीण होने लगी, लेकिन इसके बाद भी साठोत्तरी कविता और कहानी में व्यक्तिवादी-आधुनिकतावादी साहित्य की अग्नि और उसकी इधर-उधर लपलपाती लौ जीवित थी। अन्ततः वह भभककर बुझ गयी। उस दौर में अनुभव और विचार की इस अतार्किक अराजकता के बरअक्स प्रगतिशील साहित्य का पक्ष था जिसमें मुक्तिबोध शामिल थे। वह प्रगतिवाद के समर्थक थे, लेकिन उसके अन्ध पक्षधर नहीं। इसलिए प्रगतिवाद के अन्तर्विरोधों पर उँगली रखने का साहस रखते थे। प्रगतिशील साहित्यकारों के वैचारिक और रणनीतिक भटकाव की आलोचना करते हुए मुक्तिबोध ने कम्युनिस्ट पार्टी के चेयरमैन एस.ए. डांगे को पत्र भेजा था, और फिर अपना प्रसिद्ध निबन्ध 'समीक्षा की समस्याएँ' लिखा था। उस पत्र और निबन्ध में उन्होंने प्रगतिवादी समीक्षा की रणनीतिक भूलों को उजागर किया था। इस रूप में प्रगतिवाद के आन्तरिक वैचारिक संघर्ष को मुक्तिबोध ने जीवित रखा। उन्होंने नयी कविता के भीतर भी संघर्ष किया, हालाँकि दोनों जगह वह अकेले पड़ गये, फिर भी वह जूझते रहे थे।

मुक्तिबोध या रामविलास शर्मा से लेकर मैनेजर पाण्डेय सहित अनेक आलोचकों ने मार्क्सवाद की सैद्धान्तिकी का उपयोग साहित्यिक कृति के मूल्यांकन या आशंसन में किया। इधर दलित अस्मिता की विचार-दृष्टि के सहारे कुछ लेखकों ने समूचे हिन्दी साहित्य को मुख्यतः ब्राह्मणवादी घोषित कर खारिज करने का उद्दण्ड प्रयत्न किया है, या अन्यत्र स्त्रीवाद की लाठी भाँजते हुए उसे पुंसत्ववादी बताया जा रहा है—बल्कि स्त्रीवाद या दलितवाद को समग्र जीवन-दर्शन की तरह पेश किया जा रहा है। लेकिन दलित-विमर्श या स्त्रीवादी विमर्श भी संवाद से विमुख होकर ब्राह्मणवाद और पितृसत्ता—जैसे स्वनिर्मित प्रतिपक्ष पर हमलावर होकर उन्हें खारिज करने की हठधर्मिता से आगे नहीं जा पाते। अस्मिता की राजनीति उनकी सीमा बन जाती है। यह उस विचारधारा से पोषण प्राप्त करती है जो अतीत के अपराध के लिए वर्तमान को कठघरे में खड़ा कर देती है, मगर जिरह के लिए दरवाजे बन्द रखती है। दलितवाद और स्त्रीवाद मुकम्मल विचारधारा नहीं, अस्मिता-स्थापन की रणनीति है। उनके पीछे किसी सुचिन्तित दर्शन की आधारभूमि नहीं है, जैसे कि एक समग्र विचार-दर्शन के रूप में मार्क्सवाद की सैद्धान्तिकी है।

इस तरह के प्रयत्नों को छोड़ दें तो आज हिन्दी में सृजन और आलोचना के क्षेत्र में विचारधारा प्रायः उपेक्षित है। विचारधारा को व्यापक मानवीय सरोकारों से जोड़ कर जीवन को जानने-समझने के उपकरण की तरह इस्तेमाल करते हुए मुक्तिबोध ने हिन्दी साहित्य में जीवन-बोध और रचना के इतिहास-दर्शन की एक सैद्धान्तिकी विकसित की थी। उनका बौद्धिक व्यक्तित्व एक मुकम्मल मार्क्सवादी विचारक-कवि का व्यक्तित्व था। लेकिन मुक्तिबोध ने साहित्य में विचारधारा की जो लड़ाई लड़ी थी, वह अधूरी रह गयी। मार्क्सवाद को धार्मिक आस्था की तरह शिरोधार्य करने वाले लेखक संगठनों से जुड़े साहित्यकारों के यहाँ भी विचारधारा का मुक्तिबोध-जैसा आग्रह नहीं है, कि उसे अपने जीवन और सृजन में उतारने का साहस उत्पन्न

कर सके। यही स्थिति दलितवाद और स्त्रीवाद के समर्थकों की है। उनके लिए विचारधारा राजनैतिक अस्त्र-भर है जिसे हवा में लहरा कर वे अस्मिता का उद्घोष कर सकते हैं, या जिसके बल पर अस्मिता और उस पर केन्द्रित रचना को वैध ठहरा सकते हैं। मुक्तिबोध के लिए विचारधारा राजनैतिक अस्त्र-भर नहीं थी, उसे आत्मसात कर उन्होंने जीवन-दृष्टि से जोड़ने की कठिन साधना की थी। इसलिए वह उसे जीते हुए सृजन और चिन्तन में उतार सके। इसके लिए उन्हें वर्गावनत (डिक्लास) होने के लिए स्वयं को तैयार करना पड़ा। बहस की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में ही मार्क्सवादी सत्य तक पहुँचने का यत्न करता है। अपने साहित्य में मुक्तिबोध का यह बौद्धिक आचरण मार्क्सवाद की विचारदृष्टि के अनुरूप है। उन्होंने आत्म-समीक्षा और जगत-समीक्षा को साथ-साथ सम्भव किया। कितना दिलचस्प है कि इस मार्क्सवादी कवि ने लेखकीय आचरण और निजी व्यवहार में विचारधारा का आश्रय एक पल के लिए नहीं छोड़ा। अपने लेखन में उन्होंने कहीं भी मार्क्सवाद का अलग से उल्लेख नहीं किया है, सिवाय 'तार सप्तक' की भूमिका के, जिसमें उन्होंने अपने रचनात्मक विकास को रेखांकित करने के लिए नेमिचन्द्र जैन के सम्पर्क में मार्क्सवाद से प्रभावित होने का उल्लेख किया है। यह भी गौरतलब है कि उन्होंने अपने लेखन में कभी भी, न कहीं मार्क्स-एंगेल्स को उद्भूत किया, न किसी अन्य लेखक-विचारक को। उन्होंने जो भी अध्ययन किया, उसे पूर्णतः आत्मसात कर उसका उपयोग किया। यह बात इसलिए उल्लेखनीय है कि हिन्दी के अधिकतर लेखक-आलोचक अपनी बात की पुष्टि के लिए या विद्वत्ता की धाक जमाने के लिए जब-तब विदेशी लेखकों या संस्कृत साहित्य-वेद-पुराण आदि से उद्धरण दिया करते हैं।

इस सन्दर्भ में मुक्तिबोध के निबन्ध 'नयी कविता की दार्शनिक पार्श्वभूमि' की ओर ध्यान जाता है। इसमें उन्होंने साहित्य में दार्शनिक तत्त्व की खोज के सन्दर्भ में लेखकों की तीन कोटियों का जिक्र किया है। पहली कोटि में वे लेखक है जिसमें दार्शनिक तत्त्व उनकी 'विश्वदृष्टि' का अंग बनकर 'भावदृष्टि' का रूप ग्रहण करते हैं, और लेखक के आभ्यन्तर मनस्तत्त्वों को पुनर्संयोजित कर नयी व्यवस्था प्रदान करते हैं। दूसरी कोटि में वे लेखक हैं जो केवल वातावरण से प्रभाव या संस्कार ग्रहण करते हैं लेकिन उनकी भावदृष्टि विश्वदृष्टि या ज्ञानधारा से किंचित स्वाधीन होते हुए भी अन्तत उस विश्वदृष्टि का अंग बन जाती है। दोनों स्थितियों में भावदृष्टि और विश्वदृष्टि में मूलभूत एकता पाई जाने पर ही कहा जा सकता है कि लेखक के पास दार्शनिक विचारधारा है। तीसरी कोटि उन लेखकों की होती है जिनकी भावदृष्टि और विश्वदृष्टि के बीच या तो खूब फासला होता है या विश्वदृष्टि का एकदम अभाव होता है। विश्वदृष्टि से मुक्तिबोध का तात्पर्य 'स्पष्ट, मूर्त और सुलक्षित तथा संगठित विचारात्मक व्यवस्था' है।

मुक्तिबोध ने भक्ति-साहित्य को सुस्पष्ट दार्शनिक विचारधारा से सम्पन्न माना है लेकिन छायावाद और नयी कविता में उसके अभाव को लक्षित करते हुए प्रगतिवादियों के पास 'एक सुस्पष्ट और सांगोपांग विचारधारा' होने का उल्लेख किया है। उनकी दृष्टि में छायावादी भावना में भी आस्था की जगह व्यक्ति मन ही प्रधान रहा जबकि नयी कविता को उत्तराधिकार के रूप में न अध्यात्मवादी विचारधारा प्राप्त हुई, न भौतिकवादी। विश्वदृष्टि को विकसित करने का प्रयत्न भी नहीं हुआ। उन्होंने लिखा कि 'कुछ कलाकारों ने आपस में बैठकर भले ही अपने विश्वास एकत्रित कर लिये हों, किन्तु वे विश्वास उनके साहित्य की पार्श्वभूमि नहीं बन पाते।' उनके पास उस केन्द्रीय दृष्टि का अभाव था जो उनकी भावदृष्टि को अनुशासित कर सके।

कहने की जरूरत नहीं कि यह केन्द्रीय दृष्टि विचारधारा से प्राप्त होती है। इसके अभाव में यथार्थ के प्रति लेखक संवेदनात्मक प्रतिक्रिया तो व्यक्त करता है किन्तु यह प्रतिक्रिया अनुभव से उपजी 'ज्ञान-व्यवस्था' का अंग नहीं बन पाती। लेखक के मन पर संवेदना का आघात उसके अन्तर्मन की सतह पर होता है, भीतरी गहराइयों में नहीं।

जाहिर है, आज का ज्यादातर साहित्य या तो यथार्थ के प्रति संवेदनात्मक प्रतिक्रिया का साहित्य है, या स्थूल वैचारिक प्रतिक्रिया का। 'अनुभव से उपजी ज्ञान-व्यवस्था' से जुड़ न पाने के कारण वह भावात्मक संवेग या तार्किक संवेग होकर रह जाता है। पूछा जा सकता है कि क्या आज के लेखक के पास कोई विश्वदृष्टि है। विश्वदृष्टि एक व्यापक शब्द है जिसमें विचारधारा के अलावा समूचा जीवन-बोध–सभ्यता, संस्कृति और परम्परा का अभिज्ञान–शामिल है। जिन दिनों मुक्तिबोध विश्वदृष्टि का आग्रह कर रहे थे, वह शीतयुद्ध से प्रभावित वैचारिक ध्रुवीकरण का युग था। उसका प्रभाव शीतयुद्ध समाप्त होते ही निःशेष हो गया जब 1990 के बाद आर्थिक एकीकरण के चलते दुनिया एकध्रुवीय हो गयी। 1980 के दशक में प्रगतिशील खेमे और 'पूर्वग्रह' से जुड़े लेखकों के बीच बहसों को याद किया जा सकता है। पिछली शताब्दी के अन्तिम दशक में फासीवादी शक्तियों के उभार ने एक नया वैचारिक ध्रुव निर्मित किया। यह इतना शक्तिशाली साबित हुआ कि राजनीति ही नहीं, समूचे सामाजिक जीवन को उसकी स्याह छाया ने आच्छादित कर लिया। निर्मल वर्मा या नरेन्द्र कोहली जैसे कुछेक लेखकों के समर्थन के बावजूद साहित्यिक दक्षिणपन्थ निर्मित करने में वह नाकाम रहा, लेकिन सामाजिक-राजनैतिक परिदृश्य में उसकी भीषण दैत्य उपस्थिति के सामने साहित्य के पूर्वनिर्मित वैचारिक ध्रुव-प्रगतिशील और परिमल खेमे या प्रगतिशील और स्वायत्ततावादी शिविर–बौने पड़ गये। स्वायत्तता और बहुलता के आग्रही लेखक भी पिछले दो दशकों के दौरान साहित्य के मैदान से बाहर आकर फासीवाद के खिलाफ मोर्चा खोलने को विवश हुए। अनायास नहीं कि इधर अशोक वाजपेयी–जैसे लेखक खुल्लमखुल्ला एक्टिविस्ट की भूमिका में दिखाई दे रहे हैं।

दिलचस्प यह है कि आज राजनैतिक सत्ता तो प्रत्यक्ष है लेकिन बाजार, तकनीक और पूँजी की सत्ता ने मिलकर जो व्यापक गठजोड़ बना लिया है, वह फासीवादी राजनैतिक सत्ता से अधिक शक्तिशाली है। विचारधारा के प्रति उदासीनता का सम्बन्ध शायद इस गठजोड़ की मौजूदगी से है जिसने साहित्य में विचारधारा को किनारे ला फेंका है।

■

दक्षिण कोरिया की वह रात

धीरंजन मालवे

मार्शल लॉ थोपने के पीछे राष्ट्रपति का तर्क अजीब और आधारहीन था। उनका दावा था कि वे देश को राष्ट्र-विरोधी ताकतों से बचाने के लिए ऐसा कर रहे हैं। डेमोक्रेटिक पार्टी के नियन्त्रण वाली नेशनल एसेम्बली को उन्होंने अपराधियों की गुफा की संज्ञा दी जो सरकार को पंगु बनाने के लिए प्रयासरत है। उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि विपक्ष के नेता देश के दुश्मन उत्तर कोरिया से मिले हुए हैं और उसी के इशारों पर काम कर रहे हैं।

तीन दिसम्बर, 2024। दक्षिण कोरिया की बहुसंख्यक आबादी दिन-भर की भागदौड़ के बाद निद्रा देवी की गोद में जा चुकी थी। सब कुछ वैसा ही था जैसा आम दिनों में होता है। लेकिन जब चार दिसम्बर को नींद खुली तो रात-भर के भीतर उनका देश अपने लोकतान्त्रिक अस्तित्व के एक महत्त्वपूर्ण अध्याय, या यूँ कहें कि एक अग्नि परीक्षा से गुजर चुका था।

तीन दिसम्बर, 2024 की रात ग्यारह बजे देश के राष्ट्रपति यून सक-यौल राष्ट्रीय टेलीविजन पर आये और एक सनसनीखेज घोषणा कर देश में सैनिक शासन लगा दिया। देश की लोकतान्त्रिक व्यवस्था के लिए यह एक गहरा आघात था। मगर विपक्ष ने प्रतिकारात्मक कार्रवाई में कोई देर नहीं लगायी। विपक्षी दल यानी डेमोक्रेटिक पार्टी के नेता ली जए-म्यंग ने देश की नेशनल एसेम्बली में इसके सभी सदस्यों के आने का आह्वान किया। साथ ही उन्होंने अपने समर्थकों से नेशनल एसेम्बली के बाहर जुटने की गुजारिश की।

ली जए-म्यंग के आह्वान का मानो जादुई असर हुआ। इसके बावजूद कि देश में मार्शल लॉ यानी सैनिक शासन लागू हो चुका था और सैनिक देश की राजधानी सियोल की सड़कों पर गश्त लगा रहे थे, नेशनल एसेम्बली के सदस्य जुटने लग गये और गश्त लगाते सैनिकों की नजर बचाते हुए, नेशनल एसेम्बली की दीवार फाँदकर सदन के अन्दर जमा हो गये। सदस्यों ने राष्ट्रपति के निर्णय की भर्त्सना करते हुए रात एक बजे मार्शल लॉ को हटाने का प्रस्ताव पारित कर दिया। प्रस्ताव के पक्ष में जहाँ 190 वोट पड़े विपक्ष में किसी ने भी मत नहीं दिया। कमाल की बात यह थी कि स्वयं राष्ट्रपति की अपनी पार्टी यानी पीपुल्स पावर पार्टी (पीपीपी) के सदस्यों ने भी प्रस्ताव के समर्थन में ही मत दिया। इसके बाद दूसरे दिन यानी चार दिसम्बर को लगभग सवा पाँच बजे मन्त्रिमण्डल ने सैनिक शासन को हटाए जाने की घोषणा कर दी। यानी सैनिक शासन की मियाद मात्र छः घण्टे की रही। प्रभात की किरणों के साथ-साथ सैनिक शासन का अँधेरा भी मिट चुका था और लोकतन्त्र का सूरज जगमगा उठा था। देश का लोकतन्त्र एक कठिन अग्नि परीक्षा से सफलतापूर्वक गुजरकर बाहर आ चुका था।

मार्शल लॉ थोपने के पीछे राष्ट्रपति का तर्क अजीब और आधारहीन था। उनका दावा था कि वे देश को राष्ट्र-विरोधी ताकतों से बचाने के लिए ऐसा कर रहे हैं। डेमोक्रेटिक पार्टी के नियन्त्रण वाली नेशनल एसेम्बली को उन्होंने अपराधियों की गुफा की संज्ञा दी जो सरकार को पंगु बनाने के लिए प्रयासरत है। उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि विपक्ष के नेता देश के दुश्मन उत्तर कोरिया से मिले हुए हैं और उसी के इशारों पर काम कर रहे हैं। ऐसा दावा करने के पीछे उन्होंने किसी सबूत का जिक्र नहीं किया।

लेखक बीबीसी में प्रसारणकर्मी एवं प्रसार भारती के पूर्व उच्चाधिकारी रहे हैं।
+919810463338
dhiranjan@gmail.com

लेकिन विशेषज्ञों के अनुसार सैनिक शासन लागू करने के वास्तविक कारण कुछ और ही थे। वे दो साल पहले ही, यानी 2022 में राष्ट्रपति का चुनाव जीतकर आये थे। जीत का अन्तर अत्यन्त मामूली-सा था–दक्षिण कोरिया के इतिहास का सबसे छोटा अन्तर। राष्ट्रपति बनने को एक महीना गुजरा होगा। उसके बाद उनके लिए एक के बाद एक समस्याएँ आने लग गयीं।

2022 के खत्म होने में ज्यादा समय नहीं बच रहा था। तभी हैलोवीन त्योहार के दौरान हुई डरावनी धक्कमपेल में देश की राजधानी सियोल में 159 युवा मारे गये। इस दुखद त्रासदी के प्रति उनकी सरकार के संवेदनहीन रवैये के कारण राष्ट्रपति की जमकर आलोचना हुई।

उसके बाद उनकी पत्नी से जुड़ा विवाद सामने आया। उनकी पत्नी पर आरोप लगा कि उन्होंने 2,200 डॉलर (एक लाख छियासी हजार रुपये) का एक अत्यन्त महँगा बैग उपहारस्वरूप स्वीकार किया। दक्षिण कोरिया के कानून के मुताबिक किसी सरकारी अधिकारी या सेवक या उसकी पत्नी के लिए यह सीमा मात्र 750 डालर (लगभग चौसठ हजार रुपये) ही है। उपहार ग्रहण करने की घटना किसी ने वीडियो के रूप में रिकार्ड कर उसे यू ट्यूब पर डाल दिया। इसके बाद यह घटना एक घोटाले के रूप में निरन्तर सुर्खियाँ बटोरती रही और राष्ट्रपति के लिए परेशानी का सबब बनती रही। राष्ट्रपति के लिए एक और बड़ी समस्या तब उत्पन्न हुई जब 2024 के अप्रैल महीने में नेशनल एसेम्बली के जो चुनाव हुए उसमें उनकी विपक्षी पार्टी यानी डेमोक्रेटिक पार्टी भारी बहुमत से चुनकर आयी। विपक्ष की इस भारी विजय ने उनके लिए काम करना कठिन कर दिया। पिछले कुछ ही सप्ताह पहले उनके और डेमोक्रेटिक पार्टी के बीच देश के बजट को लेकर गहन राजनीतिक धींगामुश्ती चल रही थी। विपक्ष ने अपने बहुमत का इस्तेमाल करते हुए राष्ट्रपति द्वारा प्रस्तावित बजट में 473 अरब डालर (40,152 अरब रुपये) की कटौती कर दी थी। जानकारों के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा सैनिक शासन लगाये जाने का फैसला इस कटौती से बहुत कुछ प्रभावित था।

किसी भी लोकतान्त्रिक देश में इस प्रकार की समस्याएँ उठती रहती हैं और आपसी बातचीत तथा बीच-बचाव द्वारा इनका हल भी निकलता रहता है। हल ढूँढ़ने के लिए जिस प्रकार के राजनीतिक अनुभव और परिपक्वता की आवश्यकता होती है उसका राष्ट्रपति में अभाव रहा है। राष्ट्रपति बनने के पहले वे लगातार कानून के पेशे से जुड़े रहे और देश के महा-अभियोजक के पद तक पहुँचे। राष्ट्रपति का चुनाव लड़ने के कुछ ही समय पहले उन्होंने पीपुल्स पावर पार्टी की सदस्यता लेकर राजनीति में औपचारिक रूप से प्रवेश किया था। उनके मुख्य सलाहकार देश के प्रतिरक्षा मन्त्री किम यौंग हयान थे जो सेना की पृष्ठभूमि से थे। अगस्त 2024 में प्रतिरक्षा मन्त्री बनने के पहले वे राष्ट्रपति की सुरक्षा सेवा के प्रधान थे। इनका राजनीतिक अनुभव भी नहीं के बराबर ही था। शायद यही कारण है कि सैनिक शासन की घोषणा के बाद किसी ने टिप्पणी की कि राष्ट्रपति ने घोषणा के समय शराब पी रखी होगी और वे होश में बिल्कुल ही नहीं होंगे।

दक्षिण कोरिया के संविधान के अनुसार देश का राष्ट्रपति जनता द्वारा सीधे मतदान के माध्यम से निर्वाचित होता है। इसीलिए भारत में जहाँ राष्ट्रपति के अधिकार अत्यन्त सीमित हैं, दक्षिण कोरिया का राष्ट्रपति अपेक्षाकृत अधिक अधिकार-सम्पन्न है। देश की कार्यपालिका के प्रधान के रूप में वह अन्तर्निहित शक्तियों का उपयोग तो कर ही सकता है, वह देश की सेना का प्रधान सेनापति भी है और किसी देश के साथ वह युद्ध की घोषणा कर सकता है। वह पारित विधेयकों पर निषेधाज्ञा लगा सकता है, जिसे देश की संसद के दो-तिहाई बहुमत के बिना खारिज नहीं किया जा सकता। जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात है वह यह कि उसे देश में आपातकाल लागू करने और मार्शल लॉ यानी सैनिक कानून लगाने का भी अधिकार है। जब राजनीतिक अनुभव की कमी हो और व्यक्ति अधिकार-सम्पन्न हो तो सत्ता के नशे में गम्भीर भूल का हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

इस प्रकार की गम्भीर भूल के पीछे राष्ट्रपति का अपना आकलन अवश्य ही रहा होगा। दक्षिण कोरिया के मौजूदा लोकतन्त्र का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। 1910 में तत्कालीन कोरियाई साम्राज्य जापान के कब्जे में आ गया था। द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान की पराजय के बाद कोरिया विजयी मित्र राष्ट्रों के कब्जे में आया। तब कोरिया को उत्तरी और दक्षिणी दो भागों में बाँटा गया। अपने अस्तित्व में आने के बाद से दक्षिण कोरिया लगातार तानाशाही शासन के ही अधीन रहा। पहले तानाशाह सिंगमन री थे। 1960 की क्रान्ति में सिंगमन री को उखाड़ फेंका गया मगर देश में अस्थिरता उत्पन्त हो गयी। फलतः मई 1961 में हुए सैनिक विद्रोह के बाद पार्क चुंग ही की तानाशाही शुरू हुई। समय के साथ-साथ पार्क चुंग ही ने अपने पास असीमित अधिकार समेट लिये और मानवाधिकारों का हनन और विपक्ष का दमन निरन्तर बढ़ता ही रहा। 1979 में पार्क चुंग ही की हत्या के बाद चुन दू-हवान का शासन शुरू हुआ मगर दमनकारी नीतियों का सिलसिला बदस्तूर जारी रहा। परिणामतः 1987 से लोकतन्त्र की बहाली के लिए जोरदार संघर्ष हुआ और लोकतन्त्र के नये युग की शुरुआत हुई। इस प्रकार देश में सच्चे अर्थों में लोकतन्त्र का इतिहास मात्र सैंतीस साल पुराना है। ऐसे में शायद मौजूदा राष्ट्रपति ने यह सोचा हो कि मार्शल लॉ को जनता शायद आसानी से स्वीकार कर लेगी,

उनकी पत्नी से जुड़ा विवाद सामने आया। उनकी पत्नी पर आरोप लगा कि उन्होंने 2,200 डॉलर (एक लाख छियासी हजार रुपये) का एक अत्यन्त महँगा बैग उपहारस्वरूप स्वीकार किया। दक्षिण कोरिया के कानून के मुताबिक किसी सरकारी अधिकारी या सेवक या उसकी पत्नी के लिए यह सीमा मात्र 750 डालर (लगभग चौसठ हजार रुपये) ही है। उपहार ग्रहण करने की घटना किसी ने वीडियो के रूप में रिकार्ड कर उसे यू-ट्यूब पर डाल दिया। इसके बाद यह घटना एक घोटाले के रूप में निरन्तर सुर्खियाँ बटोरती रही।

खासकर तब जब उसे शत्रु देश उत्तर कोरिया का डर दिखाया जा रहा हो।

यहीं पर मौजूदा राष्ट्रपति ने एक भारी भूल कर दी। वे भूल गये कि देश की जनता ने 1987 में काफी त्याग, बलिदान और संघर्ष से लोकतन्त्र हासिल किया था और उस पर आये किसी खतरे को वे बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। वह यह भी भूल गये कि अपने सैंतीस वर्षों के अन्तराल में यहाँ लोकतन्त्र की जड़ें निरन्तर गहरी होती गयीं। इकोनोमिस्ट लोकतन्त्र सूचकांक के अनुसार 2022 में

दक्षिण कोरिया 167 देशों में 24वें स्थान पर था। वी-डेम लोकतन्त्र सूचकांक के अनुसार 2023 में दक्षिण कोरिया एशिया का तीसरा लोकतान्त्रिक देश था। जहाँ लोकतन्त्र की जड़ें इतनी गहरी हों, उसे इतनी आसानी से हिला पाना कदापि सम्भव नहीं था। सबसे बड़ी बात यह कि मौजूदा राष्ट्रपति की अपनी विश्वसनीयता ही जनता की नजर में सन्दिग्ध थी। वे जब अत्यन्त कम अन्तर से विजयी होकर राष्ट्र के 2022 में राष्ट्रपति बने थे तब उनकी लोकप्रियता 50 प्रतिशत थी जो अब घटते-घटते 20 प्रतिशत तक आ चुकी थी।

यही कारण था कि सैनिक शासन की घोषणा के तुरन्त बाद ही राजधानी सियोल की सड़कों पर जनमानस का गुस्सा उभरकर सामने आने लगा। वे वहाँ विरोध प्रदर्शन के लिए जमा होने लगे। यह अलग बात रही कि अपने गुस्से का इजहार उन्होंने संयत और शान्तिपूर्ण ढंग से किया। लेकिन इस इजहार में छिपा सन्देश आसानी से पढ़ा जा सकता था। मार्शल लॉ हटाये जाने के बावजूद जन आक्रोश थम नहीं पाया।

इस जन आक्रोश के परिणामस्वरूप प्रतिरक्षा मन्त्री किम पर तो बहुत ही बुरी बीती। राष्ट्रपति को मार्शल लॉ लागू करने की सलाह देने के कारण उनके विरुद्ध बगावत करने का आरोप लगा और औपचारिक जाँच शुरू हो गयी। उन्होंने अपने कृत्य के लिए सार्वजनिक रूप से माफी माँगी मगर कोई लाभ नहीं हुआ। उनके देश से बाहर जाने पर तो रोक लगी ही, उन्हें कैद भी कर लिया गया। कैद में उन्होंने आत्महत्या का प्रयास किया जो असफल रहा।

जहाँ तक राष्ट्रपति का प्रश्न है, उन्होंने सात दिसम्बर को अपने विरुद्ध नेशनल एसेम्बली में महाभियोग का प्रयास लाये जाने के कुछ समय पहले राष्ट्र के नाम अपने टेलीविजन प्रसारण में माफी माँगी और यह विश्वास दिलाने की भरपूर कोशिश की कि ऐसी भूल फिर दुहराई नहीं जाएगी। मगर उन पर लोगों का भरोसा उठ चुका था। लोगों ने यही समझा कि यह मात्र अपनी कुर्सी बचाने की चाल है और इसका किसी अफसोस या पश्चाताप से कोई लेना-देना नहीं है। लिहाजा 7 दिसम्बर को, सार्वजनिक रूप से क्षमा-याचना करने के बावजूद उनके विरुद्ध महाभियोग का प्रस्ताव आया। राष्ट्रपति यून की किस्मत अच्छी रही। महाभियोग पारित किये जाने के लिए एसेम्बली की कुल संख्या के दो-तिहाई मतों की आवश्यकता थी। यानी 300 सदस्यों की संख्यावाले सदन में कुल दो सौ मत। विपक्ष के पास इतने मत नहीं थे। सत्ताधारी दल यानी पीपुल्स पावर पार्टी ने इस भरोसे पर महाभियोग के पक्ष में मतदान नहीं किया कि राष्ट्रपति अपने-आप ही इस्तीफा दे देंगे। परिणामतः पहली कोशिश में महाभियोग पारित नहीं हो पाया।

लेकिन सत्ताधारी दल का भरोसा धरा-का-धरा रह गया। राष्ट्रपति ने पद से इस्तीफा नहीं दिया। उलटे, महाभियोग पारित नहीं हो पाने के कारण उनका आत्मविश्वास और भी बढ़ गया। 12 दिसम्बर को दिये गये अपने उत्तेजक और जोश से भरे भाषण में उन्होंने अपने ऊपर लगे विद्रोह के आरोप को खारिज करते हुए सैनिक शासन की अपनी घोषणा को देशहित में ठहराया। विपक्ष को आसुरी और देश-विरोधी ताकत बताते हुए उन्होंने सेना की तैनाती को व्यवस्था बनाये रखने के लिए आवश्यक बताया। वैसे अब तक राष्ट्रपति की लोकप्रियता घटकर 11 प्रतिशत पर आ चुकी थी। 14 दिसम्बर के दिन जब महाभियोग दुबारा पेश हुआ तो इस बार भाग्य उनके साथ नहीं था। उनकी अपनी पार्टी के कई सदस्य भी इस बार महाभियोग के साथ थे। फलतः 85 के विरुद्ध 204 मतों से वह पारित हो गया।

दक्षिण कोरिया के संविधान के अनुसार राष्ट्रपति के समस्त अधिकार निलम्बित कर दिये गये और प्रधानमन्त्री हान-डक-सू को कार्यवाहक राष्ट्रपति घोषित कर दिया गया। अब राष्ट्रपति यून के विरुद्ध लगे आरोपों की सुनवाई देश के संवैधानिक न्यायालय में होगी जो 180 दिनों के भीतर अपना फैसला सुनाएगा।

अगर फैसला राष्ट्रपति के पक्ष में आया तो वे दुबारा राष्ट्रपति पद के अपने सभी अधिकार वापस प्राप्त कर लेंगे। अन्यथा 60 दिनों के भीतर नये राष्ट्रपति के लिए चुनाव कराने होंगे।

इसमें शक नहीं कि लोकतन्त्र की हत्या के इस प्रयास को विश्व लोकतन्त्र के इतिहास में हमेशा ही याद किया जाएगा। साथ ही लोकतन्त्र की रक्षा के लिए सत्ताधारी और विपक्ष की एकजुटता एवं दक्षिण कोरियाई जनता की भी तत्परता और साहस को स्वर्णाक्षरों में लिखा जाएगा। अमरीकी राष्ट्रपति टामस जेफरसन ने लगभग सवा दो साल पहले कहा था कि स्वतन्त्रता की कीमत सतत जागरूकता से चुकानी होती है। दक्षिण कोरिया ने इस उक्ति को चरितार्थ कर दिखाया है।

■

परती परिकथा

इतिहास और अतीत का तनाव

हितेन्द्र पटेल

इतिहास इतिहासकार तैयार करते हैं और यह स्मृति, व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक और सामुदायिक कई स्तरों पर लगातार बनती सँवरती रहती है। स्मृति के बनने की एजेंसी किसी एक वर्ग के हाथ में नहीं होती। इसमें सभी लोग अपने-अपने तरह से योगदान करते हैं। कहा जा सकता है कि यह लोकतान्त्रिक होता है। एक स्मृति दूसरी को परिष्कृत (क्वालीफाई) करती हैं, मिटाती नहीं है। स्मृति का संसार बहुलता को स्वीकार करता है। विभिन्न समुदाय अपनी-अपनी स्मृतियों को लेकर चलते रहते हैं।

लेखक इतिहास के प्राध्यापक और विचारक हैं।
+919230511567
hittisaba@gmail.com

इतिहास आधुनिकता के साथ आया। इसने एक वस्तुनिष्ठता के सिद्धान्त को मानने की जिद को बढ़ाया और एक सैद्धान्तिकी निर्मित की और इसके लिए एक अध्ययन-पद्धति (मेथोडोलॉजी) की वकालत की। इतिहास की मेथोडोलॉजी तैयार होने में लम्बा समय लगा और कहा जा सकता है कि इसका एक वैश्विक संस्करण उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे-चौथे दशक में जर्मनी में तैयार हुआ। दर्शन की दुनिया में इतिहास दर्शन की बात वाल्टेयर ने की थी लेकिन इसको संस्थानिक आधार तब मिला जब जर्मनी में रांके ने कई अन्य लोगों के साथ मिलकर यह कहा कि इतिहास तथ्यों के आधार पर ही लिखा जा सकता है। तथ्यों के बारे में विचारों में परिवर्तन भले ही हुए हों लेकिन पद्धति के रूप में इसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है कि–'असली इतिहास' तो तथ्यों के आधार पर ही लिखा जाता है। हाल ही में रोमिला थापर का एक वीडियो बहुत वायरल हुआ जिसमें उन्होंने कहा है कि इतिहास में एक स्पष्ट विभाजन है–एक तरफ प्रोफेशनल इतिहासकार हैं जो यह समझते हैं कि स्रोत और तथ्य क्या हैं। इस समझ के साथ वे इतिहास लिखते हैं। दूसरी ओर वे हैं जो 'सोशल मीडिया के इतिहासकार' हैं जिनको स्रोतों की कोई समझ नहीं होती, वे स्रोतों को नहीं समझते और जिस किसी बात को बगैर जाँचे-समझे अपने इतिहास में रख देते हैं। यह स्पष्ट है कि इस तथ्य या स्रोत की पहचान और एक पद्धति का अनुसरण करके अतीत चर्चा करने वाले एक प्रकार के इतिहासकार हैं और बिना स्रोतों की समझ के अतीत के बारे में लिखने वाले भ्रम फैलाने वाले लोग हैं जो इतिहास के नाम पर मनमाने ढंग से इतिहास की घटनाओं और प्रक्रियाओं के बारे में लिखते हैं।

इस सन्दर्भ में इतिहास और अन्य प्रकार की अतीत चर्चाओं के अन्तर पर इतावली चिन्तक क्रोचे (1866-1952) के विचारों का स्मरण उपयोगी होगा। उनका मानना था कि इतिहास सिर्फ वास्तव में हुए पर मनन है और कवि लोग सम्भव को लिखने के लिए स्वतन्त्र हैं। क्रोचे का यह कथन बहुत सारगर्भित है पर मोटे तौर पर यह इतिहास और कला के बीच के अन्तर को मानकर चलता है। बाद में भी पश्चिम के देशों में इतिहास को तथ्य निर्भर ही माना जाता रहा।

भारत समेत गैर-यूरोपीय देशों में स्थिति थोड़ी भिन्न रही है। भारत जैसे देश में आख्यान की परम्परा प्राचीन काल से रही है और यहाँ यथार्थ चित्रण को नहीं कलात्मकता को अधिक महत्त्व मिला है। उपन्यास के सन्दर्भ में जैनेन्द्र कुमार, नामवर सिंह और निर्मल वर्मा समेत कई विद्वानों लेखकों ने 'यूरोपीय

ढंग के उपन्यास' लिखने की सीमा की विस्तार से चर्चा की है और भारतीय आख्यान परम्परा पर ध्यान दिया है जो यथार्थवादी तरीके से ही लिखने को महत्त्व देता है।

इतिहास-लेखन के सन्दर्भ से यह बात इस रूप में जुड़ती है कि इस देश में राष्ट्रवाद की उत्पत्ति के दौर में इस भाव की अभिव्यक्ति और देश स्वाभिमान की निर्मिति में उपन्यासों के आख्यान रूप से मदद मिली, इतिहास से नहीं। उन्नीसवीं शताब्दी से विश्वविद्यालय परिसर में इतिहास के स्वरूप के विकसित होने के समय (बीसवीं शताब्दी के दूसरे और तीसरे दशक) तक शिक्षित भारतीयों ने इतिहास का जो पाठ अधिक स्वीकार किया वह साहित्य और कला के क्षेत्र से आया इतिहास से नहीं।

विद्यानिवास मिश्र ने लिखा है कि उनकी आस्था बंकिमचन्द्र की पुस्तकों में थी इतिहास पुस्तकों में नहीं। यानी भारतीय अतीत का प्राथमिक पाठ देश के शिक्षित-वर्ग में साहित्य के माध्यम से आया। देखा जाये तो जो लोग इस तरह से अपने देश का इतिहास-लेखन रोमांस के माध्यम से कर रहे थे वे बंकिम, महादेव गोविन्द रानाडे और रोमेश चन्द्र दत्त जैसे प्रबुद्ध लोग थे जो इतिहास-लेखन की परम्परा से पूरी तरह सुपरिचित थे। पर उन्हें रोमांस का आख्यान अपने अतीत में ज्यादा सही माध्यम लगा, तथ्य पर आश्रित इतिहास की पद्धति नहीं।

इतिहास के इस रूप को जिसे इतिहासकार ने नहीं स्वीकार किया देश में इतना अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया कि किसी भी इतिहास से इसका महत्त्व अधिक हो गया। शिवाजी के इतिहास को इतिहास की पद्धति से लिखने वाले जदुनाथ सरकार ने शिवाजी के भक्त इतिहास लेखकों को स्वीकार नहीं किया लेकिन ये इतिहासकार जदुनाथ सरकार से अधिक प्रभावशाली रहे इसमें सन्देह नहीं। यहीं से भारत में इतिहास को लेकर दो धरातल बने। एक को अकादमिक परिसर में इतिहास के अध्ययन करने वालों में यूरोपीय पद्धति के आधार पर बढ़ाया जबकि दूसरे की पकड़ अकादमिक परिसर के बाहर शिक्षित, अर्द्धशिक्षित और अशिक्षित जनता के बीच रही। चूँकि अकादमिक जगत ने धर्म को इतिहास-लेखन से बिल्कुल अलग रखा अशिक्षित जनता ने दूसरे प्रकार के इतिहास को ही अधिक माना।

ऐसा नहीं था कि यूरोपीय ढंग के इतिहास लिखने वालों को इस बात का अहसास नहीं था उनका इतिहास आम लोगों की अतीत की स्मृति से भिन्न है। बावजूद इसके वे बार-बार यह दोहराते रहे कि इतिहास के तथ्य के आधार पर लिखा इतिहास ही इतिहास है। रमेशचन्द्र मजूमदार जैसे इतिहासकार इतिहास के सत्य पर आस्थावान रहे और वे इतिहास के तथ्यों को रखने के कारण सत्ता के साथ नहीं चले। मजूमदार को तथ्यपरक इतिहास लिखने के लिए स्वतन्त्रता संग्राम के इतिहास-लेखन के प्रोजेक्ट का दायित्व सौंपा गया। लेकिन बाद में काँग्रेस के निकट के कुछ लोगों को लगा कि वे असली काम (गाँधी के नेतृत्व में हुए ऐतिहासिक अहिंसात्मक आन्दोलन के इतिहास) में रुचि नहीं रखते। उन्होंने प्रयत्न करके मजूमदार को इस दायित्व से हटवा दिया। मजूमदार की ओर से भी राजनीतिक रूप से प्रभावशाली कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी जैसे लोग थे जिन्होंने उनके लिए सरदार पटेल को पत्र लिखा कि मजूमदार के लिए कुछ किया जाये। अन्ततः उन्हें बिड़ला जी की वित्तीय मदद मिली और भारतीय विद्या भवन की ओर से प्रकाशित सीरीज में आगे अपनी बात कहने का मौका मिला। उनकी स्वाधीनता आन्दोलन पर किताब दूसरे प्रकाशन से छपी और उसमें गाँधी के अहिंसात्मक आन्दोलन का यशोगान नहीं था।

यूरोपीय ढंग के इतिहास का प्रभाव पचास के दशक के बाद और अधिक बढ़ा और अब वे हिन्दू मुसलमान के रिश्ते पर इतिहास के तथ्यों का संयोजन इस रूप में करने की ओर सचेष्ट हुए जिसमें उनके सह-अस्तित्व को अधिक उभारा गया था न कि उनके आपसी संघर्ष को। यह नया यूरोपीय ढंग का इतिहास एक तरफ लोगों में अधिक प्रभावशाली अतीत वृत्तान्तों को पूरी तरह से खारिज कर रहा था तो दूसरी तरफ यूरोपीय ढंग के इतिहास-लेखन की उस धारा को भी हाशिये में धकेलता रहा जो हिन्दू मुसलमानों के बीच के राजनीतिक सांस्कृतिक विभेद को यथासम्भव महत्त्वहीन बताता रहा।

इस प्रक्रिया में राष्ट्रीय इतिहासकारों के इलाहाबाद स्कूल (आर.पी. त्रिपाठी जैसे) का महत्त्व कम हुआ और अलीगढ़ के सेक्युलर स्कूल का महत्त्व बढ़ा। बाद में सरकारी सहयोग से इस तरह के इतिहासकारों को अलीगढ़ के अलावा दिल्ली, कलकत्ता और जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालयों में इतिहास को प्रतिष्ठित करने की सुविधा मिली। इस परिसर में यूरोपीय ढंग के इतिहास-लेखन को सरकारी सहयोग मिला और बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य भी हुए लेकिन परिसर के बाहर पुराने ढंग का इतिहास-लेखन जारी रहा। सामान्य शिक्षित लोगों के सामाजिक परिसर में साहित्य की दुनिया में बंकिमचन्द्र के जमाने से ही जो राष्ट्रीय भावना को पुष्ट करने की दृष्टि बनी रही जिसमें राष्ट्रीय नायक मुस्लिम शासकों और अँग्रेजों के छक्के छुड़ाते रहे।

यह कहें तो गलत नहीं होगा कि इतिहास और सामूहिक स्मृति में संचित अतीत आख्यान दोनों ही अपनी-अपनी परिधि में बने रहे।

जब दो बार सत्ता परिवर्तन हुआ : 1977 और 1999 में तो इतिहास को लेकर मतभेद उभरकर आये लेकिन फिर वापस जब काँग्रेस का शासन आया तो स्थिति कमोबेश वैसी ही हो गयी जैसी 1960 के आस-पास थी।

2014 के बाद स्थिति में गुणात्मक अन्तर आया। इस बार एक ऐसी सरकार आयी जो इस यूरोपीय ढंग के इतिहास पर दो तरफा हमला करने को समर्थन देने को तैयार थी। लोगों में प्रचलित अतीत के आख्यानों का आधार तो पहले से था ही अब साहित्य में संचित राष्ट्रीय सांस्कृतिक और अतीत दृष्टि का सहयोग भी मिलने लगा। दूसरी ओर यूरोपीय ढंग के इतिहास का एक फ्रण्ट भी खुल गया जब सावरकर और टीपू सुल्तान पर इतिहास के तथ्यों को दूसरे निष्कर्ष के साथ जोड़कर यूरोपीय तरह के इतिहास भी लिखे गये जिसके निष्कर्ष सेकुलर (यूरोपीय ढंग से लिखा जाने वाला इतिहास इसी रूप में परिचित है) इतिहास से भिन्न थे।

अब पासा पलट गया था और इस नये भारत में प्रतिष्ठित इतिहासकारों को बहुत विरोध का सामना करना पड़ा। यह सिलसिला अभी भी चल रहा है।

इस चुनौती में सोशल मीडिया का एक और कोण जुड़ गया। कच्चे-पक्के स्रोतों का एक विशाल जखीरा उन लोगों के हाथ लगा

जो इतिहास को अपने तरीके से रखना चाहते थे। बड़ी संख्या में लोग तथ्यों को यहाँ-वहाँ से उठाने लगे और दूसरे प्रकार के इतिहास-लेखन में लग गये।

इस अप्रत्याशित स्थिति का मुकाबला प्रतिष्ठित इतिहासकारों ने अपने तरीके से किया। वे अपने इतिहास को तथ्य सम्मत मानते रहे और इस तरह के आक्रमण को कुछ समय का मामला समझते रहे। उन्होंने मध्य काल में साझा संस्कृति और राष्ट्रीय आन्दोलन की विचारधारा से एक बौद्धिक किलेबन्दी की और इन आक्रमणों को फासिस्ट प्रचार के रूप में देखा और इस इतिहास को व्हाट्सएप यूनिवर्सिटी में तैयार होने वाली चीज बतलाया।

यह नाकाफी सिद्ध हुआ। सरकार से जो सहयोग इन इतिहासकारों को मिलता रहा था उसे अब उनको दिया जाने लगा जो इस इतिहास को ध्वस्त करने में लगे हैं। इस तरह के इतिहास-लेखन से कुछ नयी और दबी-ढँकी चीजों पर भी ध्यान गया। इसी कारण से इसे बिल्कुल झूठा इतिहास कहकर इसे खारिज नहीं किया जा सका।

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि इस स्थिति में इतिहास का क्या होगा?

निष्पक्ष होकर देखा जाये तो यह कहा जा सकता है कि यूरोपीय ढंग के इतिहास-लेखन को रचनात्मक ढंग से फिर से नहीं लिखा जाएगा तो इसकी स्थिति में सुधार नहीं होगा अगर निकट भविष्य में सत्ता-परिवर्तन नहीं होता है।

जिसे सेक्यूलर इतिहास-लेखन की धारा कहा जाता है वह वस्तुतः राष्ट्रीय काँग्रेस की विचारधारा को समर्थन देने वाली दृष्टि है। इतिहासकारों में अगर गाँधी, सरदार पटेल, राजेन्द्र प्रसाद आदि नेताओं की अन्तर्दृष्टि होती तो वे यथासम्भव समाज में इतिहास की स्वीकृति के लिए प्रयास करते। सामूहिक स्मृति के इतिहास में वे जाते और सकारात्मक राष्ट्रीय सांस्कृतिक दृष्टि का विकास करते और इतिहास के तथ्यों की अनदेखी नहीं करते।

पूर्व के कुछ इतिहासकारों ने हिन्दू और मुसलमानों के बीच के कल्चरल फॉल्ट लाइन की बात की थी। अगर उस पर ध्यान दिया जाता तो बात आगे बढ़ सकती थी। आखिरकार जो अतीत में घटा उसकी जिम्मेवारी वर्तमान में किसी पर डालना अनुचित है। लेकिन उसके बारे में खुले मन से बात नहीं करने से स्थिति दूसरी हो जाती है।

भारत विभाजन जैसे विषय पर भी इतिहासकारों ने बहुत गोलमाल किया है। इसके पीछे राष्ट्र-निर्माण का जो तर्क दिया जाता है उसमें ज्यादा दम नहीं। इतिहास के तथ्यों को अगर ठीक से रखा जाता तो भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के गाँधी के नेतृत्व में चलने वाले आन्दोलन की सफलता के साथ विफलता की भी चर्चा होती और एक सम्यक दृष्टि का विकास हो पाता। देश सम्भवतः गाँधी के आन्दोलन की विफलता के लिए उनके नेताओं को दोष मुक्त कर देता क्योंकि गाँधी ने हिन्दू-मुसलमानों को एक संयुक्त राष्ट्र के रूप में एक साथ रखने की हर सम्भव चेष्टा की थी, इसमें कोई सन्देह नहीं।

भारत का विभाजन धर्म के आधार पर ही हुआ था इसको राजनेता राजनीतिक कारणों से अस्वीकार भले करे लेकिन इतिहासकार इसे कैसे अस्वीकार कर सकता है! बात को साफ-साफ कहने के बजाये एक बड़ा अभियान चलाया गया जिसमें नेहरू के राजनीतिक हितों की रक्षा की गयी। मुसलमानों के द्वारा मुस्लिम लीग के समर्थन की बात पर मिट्टी डालकर यह प्रचार किया गया कि काँग्रेस के साम्प्रदायिक नेतागण (पटेल, राजेन्द्र प्रसाद आदि) मुसलमानों के खिलाफ माहौल पैदा कर रहे हैं और नेहरू के कारण ही इस देश में मुसलमान सुरक्षित हैं।

यहाँ विस्तार में जाने का सुयोग नहीं है लेकिन इस तरह के इतिहास ने विभाजन के बाद देश में मुसलमानों के भारतीयकरण का एक सुयोग जाने दिया। राहुल सांकृत्यायन ने इस विषय पर मुसलमानों को कुछ सुझाव दिये थे। वे सब बहुत सकारात्मक सुझाव थे लेकिन उससे कम्युनिस्ट पार्टी को इतनी दिक्कत हुई कि उन्हें पार्टी से ही निकाल दिया गया!

यूरोपीय ढंग के इतिहास के लिए सच को इस तरह से पीछे करने के कारण बड़ा नुकसान हुआ। इतिहास-लेखन में झोल आ गया। सब कुछ चलता रहा जब तक सत्ता में काँग्रेस रही या उसके शीघ्र लौटने की सम्भावना बनी रही। जैसे ही यह सम्भावना क्षीण होती चली गयी इस तरह के इतिहास से जुड़े लोगों की संख्या कम होती जा रही है।

क्या इसका अर्थ यह है कि मनमाना इतिहास लिखने वाले ठीक कर रहे हैं? बिल्कुल नहीं। जो तथ्यों को परे रखकर अतीत के बारे में लिख रहे हैं उनके लिए इस तरह की चीज को इतिहास के रूप में स्वीकृत करना असम्भव है। झूठा इतिहास इस देश की जनता अपना इतिहास नहीं मानेगी। देर-सबेर इस प्रकार का इतिहास प्रभावी नहीं रहेगा।

जो समाज में प्रभावी रहेगा उसका एक पक्ष है प्राचीन काल से चली आ रही आख्यान परम्परा। यूरोपीय ढंग का इतिहास इसे अपदस्थ कर देगा इसकी सम्भावना नहीं है और न ही इसकी कोई आवश्यकता है। दोनों के बीच का कोई रास्ता निकालने की कोशिश होनी चाहिए।

इस सन्दर्भ में एक प्रश्न उठता है—यूरोपीय ढंग के इतिहास की जरूरत दुनिया के हर देश को हो यह क्यों जरूरी है? क्या हम वर्तमान से अपने अतीत के मनन से कोई बेहतर दृष्टि नहीं विकसित कर सकते जो अपनी संस्कृति को ध्यान में रखकर अपने अतीत की ज्ञान-व्यवस्था के निर्माण की बात सोच सकें। हर समाज के मनुष्य विविध प्रकार से अपने इतिहास की प्रक्रियाओं के बारे में विचार करते हैं। प्रसिद्ध इतावली चिन्तक विको ने कहा था कि इसमें भाषा, रूपकथा (फेबल्स), कानून, साहित्य, धर्म, मिथक आदि की भूमिकाएँ होती हैं। इनमें से अधिकतर तत्त्वों को भारतीय इतिहास के यूरोपीय ढंग के इतिहास-लेखन में महत्त्व नहीं दिया जाता। यहाँ यूरोप की तरह इस तरह की चीजों को इतिहास-लेखन से जोड़ने की कोशिश कम-से-कम राजनीतिक इतिहास-लेखन में न के बराबर रहा है।

याद दिलाया जा सकता है कि महात्मा गाँधी इतिहास का उपयोग न के बराबर करते थे और वे अपने देश के लोगों से अतीत के बारे में सकारात्मक दृष्टि से विचार करने में सफल हो जाते थे। राममनोहर लोहिया ने भी यूरोपीय ढंग के इतिहास को अपनी अतीत दृष्टि पर हावी नहीं होने दिया था। वे भी शिव, कृष्ण, राम और द्रौपदी जैसे चरित्रों के माध्यम से वह काम कर ले जाते थे जो इतिहास प्रशिक्षित व्यक्ति नहीं कर पाता।

■

बदनसीब तारीख और कविता

प्रियदर्शन

कविताघर

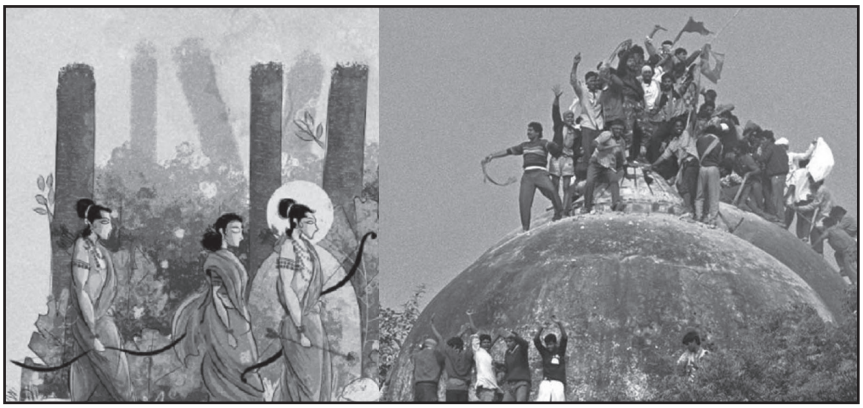

कविता बिम्बों और प्रतीकों से बनती है। लेकिन बिम्ब और प्रतीक कहाँ से बनते हैं? बिम्ब तो किसी कवि की मौलिक कल्पना हो सकते हैं। पूर्णिमा के आकाश के चाँद का आकार देखकर वह रोटी का बिम्ब बना सकता है और अमावस्या के बाद निकले चाँद को वह कटे हुए नाखून जैसा बता सकता है। हालाँकि यहाँ भी कई बार बिम्ब और उपमान पुराने पड़ जाते हैं। उनका बस इस्तेमाल बचता है, चमक चली जाती है। सावधान कवि नये बिम्ब खोजता है या पुराने बिम्बों में नये अर्थ भरता है।

मगर प्रतीकों का मामला कुछ अलग है। प्रतीक धीरे-धीरे हमारी चेतना में एक खास रूप में स्थिर होने लगते हैं। चाँद सुन्दर हो या न हो, वह सुन्दरता का प्रतीक है। गाय सीधी हो या न हो, वह सीधेपन की प्रतीक है। यह चेतना निजी नहीं सामाजिक भी होती है। घटनाएँ ही नहीं, लोग भी प्रतीकों में बदल जाते हैं। अकबर एक तरह का प्रतीक है तो औरंगजेब दूसरी तरह का। शिवाजी और महाराणा प्रताप देशभक्ति के प्रतीक बना दिये गये हैं तो मीर जाफर और जयचन्द गद्दारी के प्रतीक।

छह दिसम्बर की बदनसीब तारीख भी एक प्रतीक है। इस प्रतीक के माथे पर बाबरी मस्जिद के ध्वंस का दाग है। हिन्दी-उर्दू की बहुत सारी मार्मिक कविताएँ इस तारीख के नाम दर्ज हैं। कैफी आजमी की मशहूर कविता 'राम का दूसरा वनवास' सबसे पहले याद आती है जिसकी आखिरी पंक्तियाँ कुछ इस तरह हैं– *''पाँव सरयू में अभी राम ने धोये भी न थे / कि नजर आये वहाँ खून के गहरे धब्बे / पाँव धोये बिना सरयू के किनारे से उठे / राम ये कहते हुए अपने दुआरे से उठे / राजधानी की फिजा न आयी रास मुझे / 6 दिसम्बर को मिला दूसरा बनवास मुझे।''*

कुँवर नारायण ने 'अयोध्या 1992' नाम से राम से कुछ इस तरह का अनुरोध किया है– *''हे राम, / जीवन एक कटु यथार्थ है / और तुम एक महाकाव्य! / तुम्हारे बस की नहीं / उस अविवेक पर विजय / जिसके दस बीस नहीं / अब लाखों सर–लाखों हाथ हैं, / और विभीषण भी अब / न जाने किसके साथ है / इससे बड़ा क्या हो सकता है हमारा दुर्भाग्य / एक विवादित स्थल में सिमटकर रह गया तुम्हारा साम्राज्य / अयोध्या इस समय तुम्हारी अयोध्या नहीं / योद्धाओं की लंका है / 'मानस' तुम्हारा 'चरित' नहीं / चुनाव का डंका है!''*

लेकिन इन दिनों छह दिसम्बर को लेकर एक तीसरी कविता चर्चा में है। यह नरेश सक्सेना की '6 दिसम्बर' है। कविता इस तरह है– *''इतिहास के बहुत से भ्रमों में से / एक यह भी है / कि महमूद गजनवी लौट गया था / लौटा नहीं था वह / यहीं था / सैंकड़ों बरस बाद अचानक / वह प्रकट हुआ / अयोध्या में / सोमनाथ में उसने किया था / अल्लाह का काम तमाम / इस बार उसका नारा था / जय श्रीराम।''*

इन तीनों कविताओं का सन्देश लगभग एक है–कि अयोध्या में जो कुछ हुआ, वह राम की मर्यादा, राम के आचरण अनुकूल नहीं था। राम होते तो अकेले पड़ जाते या फिर जंगल लौट जाते।

यहाँ तक समस्या नहीं है। तीनों कविताएँ अपनी बात पुख्ता तरीके से कहती हैं। तीनों कविताओं में यह स्पष्ट है कि अपने भक्तों की करतूत से राम आहत होते। लेकिन क्या रामभक्तों को राम के आहत होने की परवाह है? पहले लगता था कि शायद यह मुट्ठी-भर कुछ हजार या कुछ लाख लोग हैं जिनके भीतर धर्म नाम की अफीम कुछ ज्यादा उतर गयी है और उनको छोड़कर बाकी समाज उनके इस कुकृत्य पर दुःखी होगा। लेकिन अब तस्वीर बेहद स्पष्ट है। इस बात से कोई दुःखी नहीं

लेखक कवि, कथाकार एवं एनडीटीवी में वरिष्ठ कार्यकारी सम्पादक हैं।
+919811901398
priyadarshan.parag@gmail.com

है कि राम के नाम पर बार-बार मर्यादा तोड़ी गयी। पहले मूर्तियाँ रखने का छल हुआ, फिर जोर-जबरदस्ती से पूरी इमारत ढहा दी गयी और फिर कानून का हवाला देकर एक भव्य मन्दिर खड़ाकर लिया गया। उन्हें बस यही बात रास आ रही है कि अब उनकी बहुसंख्यक जिद के आगे सरकार झुकती है, उनसे अल्पसंख्यक डरते हैं, और वे मनचाहे ढंग से राम मन्दिर बना सकते हैं और दूसरे मन्दिरों के लिए दूसरी मस्जिदों पर दावा कर सकते हैं।

जाहिर है, इस मोड़ पर ये कविताएँ पीछे टूटती लगती हैं। इनमें एक भोलापन है जो हमारी तरह के उदार लोगों को रास आता है। बेशक, तीनों कविताएँ एक तरह से छह दिसम्बर और उसके आस-पास चले कृत्य की तीखी भर्त्सना करती हैं, कैफी खून के धब्बों को प्रतीक बनाते हैं और राम की पवित्रता को याद करते हैं। वे मानते हैं कि राम खुद यह सब देखकर लौट जाते। कुँवर नारायण कुछ ज्यादा स्पष्ट राजनीतिक शब्दों में राम को सलाह देते हैं कि वे जंगल में सपत्नीक लौट जाएँ–क्योंकि यह त्रेता नहीं, नेता युग है। लेकिन नरेश सक्सेना इनसे आगे जाकर यह चिह्नित करने की कोशिश करते हैं कि वह कौन है जो राम के नाम का उपहास कर रहा है।

इस मोड़ पर उनकी कविता बहुत सारे लोगों के लिए एक समस्या पैदा करती है। नरेश सक्सेना मोहम्मद गजनवी को एक प्रतीक के रूप में चुनते हैं। लेकिन प्रतीक कहाँ से बनते हैं? स्मृति से, किस्सों से, मिथकों से, वास्तविकता से–सबको फेंट-छान कर किसी समुदाय के भीतर किसी व्यक्ति या स्थिति या तारीख के प्रति जो राय अपने-आप बन जाती है, उससे प्रतीक बनते हैं।

अब गजनवी की दो तरह की स्मृतियाँ हैं। एक गजनवी वह है जिसने हिन्दुस्तान पर बार-बार हमला किया और जिसने सोमनाथ और मथुरा के मन्दिर लूटकर अपनी राजधानी सजायी। लेकिन एक अन्य स्मृति में गजनवी एक विजेता योद्धा है जिसने अपना एक विशाल साम्राज्य खड़ा किया। इस स्मृति को यह रास नहीं आता कि गजनवी का उल्लेख बस मन्दिर तोड़ने वाले के रूप में किया जाए और अयोध्या में जो कुछ हो रहा है, उसके खलनायकों को भी गजनवी के नाम से याद किया जाये।

तो राजनीतिक या सामाजिक तौर पर गढ़े गये प्रतीकों की एक मुश्किल यह है। वे एक हद के आगे आपका साथ नहीं देते। लेकिन क्या फिर इन्हें कविता में इस्तेमाल न किया जाये? इस ढंग से देखें तो छह दिसम्बर की तारीख ही एक बँटा हुआ प्रतीक है। बहुत सारे लोग ऐसे निकल आएँगे जो छह दिसम्बर को हिन्दुत्व की पुनर्स्थापना के प्रतीक दिवस के रूप में देखेंगे। वे यह समझने को तैयार नहीं होंगे कि इस दिन दरअसल 400 साल पुरानी एक इमारत नहीं टूटी थी, भारत की साझा संस्कृति का भरोसा टूटा था, लोकतान्त्रिक सद्भाव की वह इमारत टूटी थी जिसके भीतर सब अपने-अपने अतीत और अपने-अपने पूर्वग्रह छोड़कर बस सकते थे।

ऐसे में कवि क्या करे? वैसे प्रतीक कहाँ से खोजकर लाये जो सबको स्वीकार्य हों? और ऐसे शाकाहारी प्रतीकों का क्या मतलब रह जाता है? कविता हमेशा अच्छी और स्वीकार्य होने के लिए नहीं होती। उसका काम असहमति पैदा करना और कुछ लोगों को नाराज करना भी है।

बेशक, नरेश सक्सेना की कविता जिन लोगों को नाराज करने के मकसद से लिखी गयी थी, उनका तो पता नहीं, उससे नाराज वे लोग हो गये जिनके पक्ष में कविता को माना जाना चाहिए। अतिरेक यह है–और जो इन दिनों बहुत आसान हो चला है कि किसी को फौरन हिन्दूवादी, यथास्थितिवादी, फासीवाद की समझ न रखने वाला करार दिया जाये जो उन्हें करार दिया जा रहा है।

लेकिन यह टिप्पणी नरेश सक्सेना के बचाव के लिए नहीं, उन कविताओं पर विचार के लिए लिखी जा रही है जिनका वास्ता ऐसे प्रतीकों से होता है जो दोधारी तलवार का काम कर सकते हैं। अगर यह कविता कुछ लोगों को दुखी कर रही है तो उन्हें यह समझना होगा कि मोहम्मद गजनवी जैसा भी रहा हो, उसके कुछ कृत्य ऐसे रहे जो उसकी विजेता छवि पर चोट करते हैं, जो उसे एक बहुत बड़ी स्मृति के लिए आक्रान्ता और विध्वंसक प्रतीक के रूप में बदलते हैं। क्योंकि जैसे यह तथ्य नहीं बदलता कि बाबरी मस्जिद किन लोगों ने तोड़ी, वैसे ही यह तथ्य नहीं बदलता कि सोमनाथ मन्दिर को किसने तोड़ा-लूटा था। और इसी से यह खयाल भी आ सकता है कि अगर हजार साल बाद एक विजेता की हरकत उसे एक आक्रान्ता में बदलती है, तो जिन लोगों ने बाबरी मस्जिद ढहायी, उन्हें भी अगले एक हजार साल तक किस रूप में याद किया जाएगा?

इस मोड़ से देखें तो मोहम्मद गजनवी कोई व्यक्ति या बादशाह नहीं है, एक प्रतीक है– ऐसा प्रतीक जो न सोमनाथ में अल्लाह की शान बचा सका, न बाबरी मस्जिद में भगवान का मान रख सका। जो मन्दिर-मस्जिद तोड़ कर ईश्वर-अल्लाह को बचाने या स्थापित करने निकलते हैं, वे दरअसल सबसे ज्यादा नुकसान अपने धर्म और अपनी धार्मिकता को ही पहुँचाते हैं। बेशक, एक फर्क तब के गजनवी और अब के आक्रान्ताओं में है। वह गजनवी हुकूमत के जोर पर मजहब को स्थापित करने चला था, आज के गजनवी मजहब के नाम पर सियासत करते हैं। लेकिन तोड़-फोड़ और ध्वंस से धर्म नहीं बचते या फैलते हैं, बचते या फैलते वे कविता से ही हैं–फिर कविता आस्था की हो या बगावत की–धर्म का अभिनन्दन करती हो या उसका मजाक उड़ाती हो। तुलसी-कबीर, गालिब-मीर-सब इसकी मिसाल हैं।

■

तो राजनीतिक या सामाजिक तौर पर गढ़े गये प्रतीकों की एक मुश्किल यह है। वे एक हद के आगे आपका साथ नहीं देते। लेकिन क्या फिर इन्हें कविता में इस्तेमाल न किया जाये? इस ढंग से देखें तो छह दिसम्बर की तारीख ही एक बँटा हुआ प्रतीक है। बहुत सारे लोग ऐसे निकल आएँगे जो छह दिसम्बर को हिन्दुत्व की पुनर्स्थापना के प्रतीक दिवस के रूप में देखेंगे। वे यह समझने को तैयार नहीं होंगे कि इस दिन दरअसल 400 साल पुरानी एक इमारत नहीं टूटी थी, भारत की साझा संस्कृति का भरोसा टूटा था, लोकतान्त्रिक सद्भाव की वह इमारत टूटी थी जिसके भीतर सब अपने-अपने अतीत और अपने-अपने पूर्वग्रह छोड़कर बस सकते थे।

शहरी खेती में जैव-विविधता

राधेश्याम मंगोलपुरी

शहरनामा

जैव-विविधता पार्क यहाँ रह रहे प्राणियों के लिए ऐसा वातावरण तैयार करते हैं ताकि उनके जीवन में मनुष्य द्वारा किसी प्रकार का खलल न पड़े। जैव-विविधता पार्क चूँकि प्रकृति के नियमों को ध्यान में रखकर विकसित किये जाते हैं, इसलिए इनके पेड़-पौधों में धूलकण और कार्बन को सोखने की क्षमता अधिक होती है। इन पार्कों में गिरे पत्तों को उठाया नहीं जाता। इन्हें यहीं सड़ने-गलने दिया जाता है। इससे न केवल खाद बनता है, मिट्टी बनती है, बल्कि पार्क में जल को सोखने की क्षमता भी अधिक होती है।

मनुष्य ने प्रकृति का अत्यधिक दोहन करके अपने पैरों में खुद ही कुल्हाड़ी मार ली है। इसका परिणाम है–हवा, पानी, मिट्टी इत्यादि आवश्यक जीवनदायी चीजों का घोर अभाव या प्रदूषित होना। जिन जगहों पर मनुष्य का संकेन्द्रण ज्यादा हुआ है, वहाँ संकट उतना ही अधिक गहरा हुआ है। यों तो हर जगह समस्याएँ हैं, किन्तु महानगर में इनकी विकरालता ज्यादा महसूस की जा रही है। दिल्ली में वाहनों और कल-कारखानों की बढ़ती तादाद ने इसे महासंकट का रूप दे दिया है। शहर में बस्तियों का क्षेत्रफल दिनानुदिन बढ़ रहा है और पेड़-पौधों का खात्मा हो रहा है। कहते हैं कि आज से दो सौ वर्ष पहले दिल्ली में बाग-ही-बाग थे, वन-ही-वन थे। उन बाग-बगीचों और वनों के नाम भी थे। अब वे नहीं हैं, किन्तु उनमें से कुछेक के नाम अब भी बचे हैं। तीस हजारी नाम की जो जगह है इन दिनों, वह कभी तीस हजार वृक्षों का एक हरा-भरा और विशाल बाग था। कुदमिया बाग, मोती बाग, मीरा बाग, पंजाबी बाग, मीना बाग, करोल बाग–इत्यादि जगहों पर अब कोई बाग नहीं है, कहीं-कहीं छोटे उद्यान मिल जाएँ तो गनीमत समझिये। अब यहाँ हैं–ऊँची-ऊँची इमारतें, बाजार, आवासीय कालोनियाँ। ये सब संरचनाएँ पेड़-पौधों का सफाया करके ही बनी हैं। इसी तरह पहाड़ियों का भी नामोनिशान मिटाया गया। रायसीना की पहाड़ी पर राष्ट्रपति भवन खड़ा है। पहाड़ी धीरज एक मुहल्ला है। जवाहर लाल नेहरू परिसर भी पहाड़ी पर ही स्थित है। पहाड़गंज नाम भी पहाड़ी की याद दिलाता है। दिल्ली का एक बड़ा हिस्सा अरावली के वन-पहाड़ पर बसा है, जो क्षेत्र अब भी खाली है। वहाँ इसकी झलक साफ-साफ देखी जा सकती है। नदी, पहाड़, जंगल, तालाब, बाग-बगीचों–सब पर कब्जा करके हमने जो भव्य भवन, सड़कें आदि बनाये हैं, उससे लाभ जो भी हुआ हो, कहीं ज्यादा हानि हुई है। पहले वह हानि उपेक्षणीय भले रही हो, आज तो वह सर्वग्रासी बन गयी है। गनीमत यह है कि विकास की चकाचौंध में अब हम आँख मूँदकर बहके नहीं जा रहे हैं, बल्कि इस विकास पर सवाल भी उठा रहे हैं। सवाल ही नहीं उठा रहे हैं, कुछ जरूरी कदम भी उठा रहे हैं ताकि जो हानि हो रही है या हुई है, उसकी क्षतिपूर्ति हो सके। इसी दिशा में है वानिकी और जैव-विविधता उद्यान की परियोजनाएँ जो दिल्ली को हरियाली ही नहीं देंगी; बल्कि महानगर के बारे में एक नया दृष्टिकोण भी दे रही हैं।

दिल्ली सरकार का वन-विभाग हर साल पेड़-पौधे लगाने की मुहिम चलाता है। इसके अन्तर्गत लाखों-लाख पौधे लगाये जाते हैं–सरकारी महकमों द्वारा और नागरिकों द्वारा। ये पौधे सड़कों पर, उद्यानों में, यहाँ तक कि घर की छतों पर, स्कूल-कॉलेज के परिसरों में भी लगाये जाते हैं। डी.डी.ए., नगर निगम, नयी दिल्ली नगर पालिका परिषद, दिल्ली छावनी परिषद, आदि नगर निकाय भी अपने-अपने तरीकों से दिल्ली को हरियाली से आच्छादित

लेखक शोधकर्ता और विचारक हैं।
+919250503283
choudhary1958@gmail.com

करने के काम में लगी हैं। किन्तु ये सभी प्रयास नाकाफी हैं। दिल्ली को यदि साफ-सुथरा और प्रदूषण-मुक्त बनाना है तो इन सांकेतित उपायों से कहीं ज्यादा व्यापक कार्यक्रम बनाने होंगे।

दिल्ली के अन्तर्गत जैव-विविधता उद्यानों की परियोजना एक सकारात्मक कदम है। यह दिल्ली को हरियाली प्रदान करने से बहुत आगे की सोच को दर्शाती है। इस परियोजना के तहत दिल्ली में कुल सात जैव-विविधता पार्क बनाये गये हैं–

1. यमुना जैव-विविधता पार्क—जो यमुना के किनारे है जगतपुर गाँव से लगा हुआ। यह पार्क दो चरणों में विकसित किया जा रहा है। पहले चरण का पार्क 157 एकड़ में फैला हुआ है। इसकी शुरुआत 2002 में हुई थी। दूसरे चरण का पार्क करीब 300 एकड़ में है। इन दोनों चरणों के पार्कों को एक गलियारे के माध्यम से जोड़ा गया है। दिल्ली में जितने जैव-विविधता पार्क हैं, सबमें अनेक वनस्पति-विज्ञानी और जीव-विज्ञानी कार्यरत हैं इन सबका नेतृत्व कर रहे हैं–सी. आर. बाबू। यहाँ कार्यरत वैज्ञानिकों का कहना हैं–''जैव-विविधता पार्क दुनिया-भर में एक नयी अवधारणा के साथ शुरू हुआ है। इसमें न केवल मनुष्य का ध्यान रखा गया है, बल्कि पूरी पृथ्वी पर रहने वाले सभी जीव-जन्तुओं को दृष्टि में रखकर उद्यानों का विकास किया जा रहा है। यह स्थलचर, नभचर और जलचर के साथ-साथ भूगर्भ में पलने वाले जीव-जन्तुओं के बारे में भी सोच-विचार रखता है और उनके लिए अनुकूल वातावरण का निर्माण करता है। इसलिए इन पार्कों में घास, पेड़-पौधे, चिड़िया, कीड़े-मकोड़े, पशु, सबके अनुकूल परिस्थितिकीय तन्त्र का विकास करने की कोशिश की जा रही है। इसके परिणाम भी सामने आने लगे हैं। इन पार्कों में साँप, नेवले, सियार, बिल्ली, देशी-विदेशी पक्षी, तरह-तरह के फलदार वृक्ष, फूलवाले पौधे, औषधीय पौधे, मछलियाँ, तितलियाँ, चीटियाँ, दीमकें, नील गाय, काँटेदार वृक्ष, घासें, आदि सर्वत्र दिखते हैं। शुरू में पौधे लगाये जाते हैं, बाद में वे स्वतः उगने लगते हैं जैसा कि प्राकृतिक जंगलों में होता है। हम किसी जीव को जंगल में नहीं छोड़ते, बल्कि वातावरण निर्माण के कारण उनका आगमन होने लगता है।''

2. कमला नेहरू रिज जैव-विविधता पार्क—यह पार्क अरावली पर्वत श्रृंखला पर स्थित है। यह 300 एकड़ क्षेत्र में फैला हुआ है। यह पार्क पहले एक सामान्य उद्यान था, जिसमें आस-पास के नागरिक सुबह से शाम तक टहला करते थे। इसमें पहले एक वर्षीय पौधों की भरमार थी। जब से इसे जैव-विविधता पार्क में विकसित किया जा रहा है, इसमें बहुवर्षीय पौधे लगाये जा रहे हैं। यहाँ जो भी पौधे हैं, या लगाये जाते हैं, उन्हें बन्दरों से बहुत खतरा है। इस पार्क में बन्दरों की संख्या इतनी ज्यादा है कि वे यहाँ हर तरह के पौधों को क्षति पहुँचाते हैं। यद्यपि इस पार्क में उनके खाने लायक पदार्थों की कमी है, लेकिन आस-पास के लोग इन्हें इतना अधिक खाद्य-सामग्री देते हैं कि उसे पचाने के लिए ये इस डाली से उस डाली पर उछल-कूद करते रहते हैं। एक वैज्ञानिक ने, जो यहाँ कार्यरत हैं, हमें बताया। यहाँ दो वैज्ञानिक हैं। उन्होंने हमें इस पार्क के कई हिस्सों को दिखाया और कई तरह की सूचनाएँ दीं। इस पार्क में कई झीलें हैं। ये झीलें पहाड़ी के बीच हैं। इन झीलों में लगभग सालों-भर पानी रहता है। एक झील के किनारे कुछ बगुले बैठे हुए थे। वैज्ञानिकों में से एक ने कहा, ''इसका मतलब है कि झील में मछलियाँ हैं। प्रकृति में हर प्राणी के लिए कुछ-न-कुछ खाद्य है, इसीलिए वह जीवित है। प्रकृति में जीव-ही-जीव का भोजन है। फल, पत्तियाँ, जड़, फूल, तना–सभी किसी-न-किसी प्राणी के आहार हैं। इनके ऊपर बैठे कीड़े-मकोड़े चिड़िया-चुरुंग के आहार हैं। मिट्टी हो या जल–इनके भीतर पलने वाले विविध जीव एक-दूसरे का शिकार करते हैं। मछली, मेढक, बन्दर, बाघ, हिरण, नेवला, साँप, या अन्य जीव खेती नहीं करते; बल्कि किसी-न-किसी जीव (चाहे वह पादप हो, सरीसृप हो, चौपाया हो या अन्य) पर निर्भर हैं। जैव-विविधता पार्क सभी जीवों के अस्तित्व के लिए अनुकूल परिस्थिति का निर्माण करते हैं। उन्होंने हमें अपना तितली-पार्क दिखाया और अण्डे से तितली कैसे बनती है; यह दिखाया। चार चरणों में तितली अपना जीवन-चक्र पूरा करती है। यह पौधों के परागण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। हर जैव-विविधता पार्क का एक कोना तितलियों के संरक्षण के लिए सुरक्षित है।

3. अरावली जैव-विविधता पार्क—यह पार्क वसन्त विहार के अरावली क्षेत्र में विकसित किया जा रहा है। यह दिल्ली का सबसे बड़ा जैव-विविधता पार्क है। इसकी शुरुआत 2004-05 से हुई। यहाँ कार्यरत एक वैज्ञानिक ने हमें बताया, ''इस जगह पर बड़े पैमाने पर खनन हुआ है। इसलिए यहाँ विशाल गड्ढे हैं। डी.डी.ए. की योजना यहाँ जंगल विकसित करने की नहीं थी। वसन्त विहार के नागरिकों ने सुप्रीम कोर्ट में मुकदमा दायर कर इस क्षेत्र को हरित क्षेत्र में विकसित करने की लड़ाई लड़ी और वे अपने मकसद में कामयाब हुए। इस क्षेत्र में स्थानीय पौधे कम ही थे। अँग्रेजों ने अरावली की पहाड़ियों पर कीकर के बीज का छिड़काव करके इसे हरा-भरा बनाने की कोशिश की। विलायती कीकर की बहुतायत संख्या का राज यही है। यह कीकर जहाँ भी जनमता है, जवान होने पर अपने नीचे दूसरे पौधों को पैदा नहीं होने देता। इसलिए यह बहुत जरूरी है कि इस क्षेत्र से इस कीकर को हटाया जाये ताकि अन्य पौधों को उपजाने के लिए अनुकूल परिस्थिति बने। हमने यही किया है।'' यहाँ कार्यरत एक दूसरे वैज्ञानिक का कहना है, ''सामान्य पार्क से जैव-विविधता पार्क भिन्न है। सामान्य पार्क में हर तरह के पौधे लगाये जाते हैं जो उसके सौन्दर्य को बढ़ाते हैं। ये पौधे और इसका पूरा वातावरण यहाँ आने वाले लोगों का मनोरंजन करते हैं। लोगों के गप्प-शप्प के लिए माहौल प्रदान करते हैं। जैव-विविधता पार्क यहाँ रह रहे प्राणियों के लिए ऐसा वातावरण तैयार करते हैं ताकि उनके जीवन में मनुष्य द्वारा किसी प्रकार का खलल न पड़े। जैव-विविधता पार्क चूँकि प्रकृति के नियमों को ध्यान में रखकर विकसित किये जाते हैं, इसलिए इनके पेड़-पौधों में धूलकण और कार्बन को सोखने की क्षमता अधिक होती है। इन पार्कों में गिरे पत्तों को उठाया नहीं जाता। इन्हें यहीं सड़ने-गलने दिया जाता है। इससे न केवल खाद बनता है, मिट्टी बनती है, बल्कि पार्क में जल को सोखने की क्षमता भी

अधिक होती है। जैव-विविधता पार्क अपने अन्दर वर्षा-जल का भण्डारण करते हैं। यहाँ बरसने वाले पानी का एक बूँद भी बहकर बाहर नहीं जाता। इससे भूजल का स्तर ऊपर उठने में भी मदद मिलती है। अरावली जैव-विविधता पार्क लगभग 700 एकड़ में फैला हुआ है। इस पार्क में घूमते हुए एक वैज्ञानिक ने हमें समझाया–''यह जंगल मानव-निर्मित है। अब तक हमने विभिन्न प्रजातियों के अलग-अलग

समूह बनाकर इनका रोपण किया है। यहाँ 800 प्रजातियों के 30 समूह हैं। यह जंगल चिड़ियों को घोंसला देता है और खाना भी। अब तक पौधों की देख-रेख के लिए उन्हें मिट्टी, खाद और पानी की जरूरत पड़ती रही है। 20 साल से हम इस जंगल का निर्माण कर रहे हैं। अभी इस क्षेत्र में खुद भी कुछ पौधे उगने और बढ़ने लगे हैं। कुछ साल और लगेंगे जब इस जंगल को मानव के सहारे की जरूरत नहीं पड़ेगी। इस जंगल में भी तालाब है कई-कई। फिर भी इसके अनेक पौधों की सिंचाई होती है भूगर्भ जल से। नलकूप से मोटर द्वारा पानी निकाला जाता है।

4. नीला हौज जैव-विविधता पार्क–यह पार्क अरुणा आसफ अली रोड पर वसन्त कुंज के संजय वन के साथ लगा हुआ है। इस पार्क में सीवेज के पानी को प्राकृतिक तरीके से साफ किया जाता है। इसके लिए सबसे पहले पानी को एक टैंक में जमा करके तार की जाली से छानने के बाद एक नाली से होकर गुजारा जाता है। इस नाली में कई जगह छोटे-छोटे पत्थर के अवरोधों से पानी छनते हुए आगे बढ़ता है। जाली से छनने के बाद पानी में पोलीथीन या खर-पतवार जैसी चीजें नहीं रह जातीं। जैसे-जैसे नाली में अवरोधों से होकर पानी गुजरता है उस पानी में मिले ठोस कण नीचे बैठते जाते हैं और पानी लगातार साफ होकर आगे बढ़ता है। फिर नाली चौड़ी होती है जिसमें पहुँचकर पानी के ठोस कण पानी से अलग हो जाते हैं। पानी में घुलनशील पदार्थों को अलग करने के लिए उसे ऐसी घासों से गुजारा जाता है जो उस घास के लिए आहार का काम करते हैं। पुनः पत्थर और घास से गुजरता हुआ पानी एकदम साफ हो जाता है। यह पानी नीला हौज में पहुँचता है। इस पानी में कई जलीय जीव और पक्षी आहार-विहार करते हैं। नीला हौज के आस-पास तट पर कई तरह के पौधे हैं। इस पार्क में नील गाय और अन्य जानवर भी आते-जाते रहते हैं।

5. तीलपथ जैव-विविधता पार्क–यह पार्क असोला वन्य जीव अभयारण्य से एक दीवार के माध्यम से अलग होता है। इसके दूसरी तरफ है सैनिक फार्म। इस पार्क की जमीन पर कई लोगों ने जहाँ-तहाँ अवैध तरीके से घर बना लिया है। इस पार्क की शुरुआत हुई है 2015 में। यहाँ कार्यरत एक वैज्ञानिक का कहना है, ''अवैध कब्जे से पार्क को मुक्त कराना एक बड़ी जिम्मेवारी है। हालाँकि पार्क का यह हिस्सा एक छोटा भू-भाग है। हम पार्क में स्थानीय पौधों को लगा रहे हैं और विदेशी पौधों को हटा रहे हैं। इस पार्क में साँपों और पक्षियों की अनेकानेक प्रजातियाँ हैं। रात में इस पार्क में तेन्दुआ भी आता है। दिन में वह नजदीक के अभयारण्य में लौट जाता है।''

6. तुगलकाबाद जैव-विविधता पार्क–यह पार्क ओखला के कचरा डम्पिंग स्थान के पास है। तुगलकाबाद गाँव इसके दूसरी तरफ है। इस पार्क को विकसित करने में अनेक कठिनाइयाँ थीं। पहली तो यही कि इसकी भूमि को लोगों ने अवैध कब्जे में तो रखा था। उस जमीन को मुक्त कराने के बाद इसकी बाउण्ड्री कराई गयी। इस पार्क की कुछ जमीन पत्थरीली है। इसमें कैक्टस प्रजाति के पौधे लगाये गये हैं। अन्य जैव-विविधता पार्कों की तरह इस पार्क को भी कई खण्डों में बाँटा गया है और उसमें अलग-अलग प्रजातियों के पौधों को कई समूहों में लगाया गया है। इस पार्क में भी कई प्रजातियों के पशु-पक्षी हैं।

7. कालिन्दी कुंज जैव-विविधता पार्क–यह पार्क डी.एन.डी. ब्रिज के नजदीक यमुना किनारे स्थित है। कालिन्दी कुंज से सटा होने के कारण इसे कालिन्दी कुंज जैव-विविधता पार्क नाम मिला है। इस पार्क का स्वरूप नम भूमि में स्थित पार्कवाला है। यहाँ सीवेज के पानी का प्राकृतिक तरीके से शोधन किया जाता है और यहाँ बने तालाब में पानी को इकट्ठा करके उसे इस रूप में डाला जा रहा है ताकि यहाँ तरह-तरह के पक्षी और जलीय जन्तु अपना बसेरा बना सकें। यहाँ जो स्थल भाग है, उसमें पौधे लगाये जा रहे हैं। अभी यहाँ सब कुछ प्रारम्भिक चरण में है।

जैव-विविधता पार्कों की विशेषता यह है कि ये सब पार्क (उद्यान) मनोरंजन प्रदान करने वाले सार्वजनिक पार्कों से अलग तो है ही, यह दिल्ली में स्थित प्राकृतिक जंगलों से भी भिन्न है। इस पार्क में मनुष्य और अन्य जीव-जन्तु दोनों को ध्यान में रखकर पेड़-पौधे लगाये जा रहे हैं, जिनमें फलदार वृक्ष हैं, औषधीय पौधे हैं, सब्जी और घासें हैं। यहाँ तालाब हैं, तो नमभूमि में विकसित होने वाले पौधे भी हैं। यहाँ प्रकृति की खूबसूरती में चार-चाँद लगाने वाले भाँति-भाँति के फूल वाले पौधे भी हैं। यह पार्क अभयारण्य पार्क से इस मायने में भिन्न है कि वह पहले से मौजूद जंगल है जिसे खास-खास जीव-जन्तुओं के लिए सुरक्षित किया गया है; जबकि यह पार्क मानव द्वारा निर्मित जंगल है, जिसमें अधिकाधिक जीव-जन्तुओं के लिए अनुकूल पर्यावास का निर्माण किया जा रहा है।

■

भोपाल गैस त्रासदी के चार दशक

शैलेन्द्र चौहान

प्रासंगिक

जनवरी 1982 में, एक फॉस्जीन रिसाव ने 24 श्रमिकों को प्रभावित किया, जिनमें से सभी को अस्पताल में भर्ती कराया गया था। किसी भी कर्मचारी को सुरक्षात्मक उपकरण पहनने का आदेश नहीं दिया गया था। एक महीने बाद फरवरी 1982 में, एक एम.आई.सी. रिसाव ने 18 श्रमिकों को प्रभावित किया।

लेखक वरिष्ठ पत्रकार और 'धरती' पत्रिका के सम्पादक हैं।

+917838897877

shailendrachauhan@hotmail.com

2-3 दिसम्बर, 1984 की रात को भारत के मध्य प्रदेश के भोपाल में यूनियन कार्बाइड इण्डिया लिमिटेड (यू. सी. आई. एल.) कीटनाशक संयन्त्र में हुई एक रासायनिक दुर्घटना थी। जिसे दुनिया की सबसे खराब औद्योगिक आपदा माना जाता है, संयन्त्र के आस-पास के छोटे शहरों में 5 लाख से अधिक लोग अत्यधिक जहरीली गैस मिथाइल आइसोसाइनेट (एम. आई.सी.) के सम्पर्क में आये थे। मरने वालों की संख्या के बारे में अनुमान अलग-अलग हैं। 2008 में, मध्य प्रदेश सरकार ने गैस रिसाव में मारे गये 3787 पीड़ितों के परिवार के सदस्यों और 574366 घायल पीड़ितों को मुआवजा दिया। 2006 में एक सरकारी हलफनामे में कहा गया है कि अन्य लोगों का अनुमान है कि दो सप्ताह के भीतर 8,000 लोग मर गये, और उसके बाद से 8,000 या उससे अधिक लोग गैस से सम्बन्धित बीमारियों से मर चुके हैं।

यू.सी.आई.एल. फैक्ट्री का निर्माण 1969 में कीटनाशक सेविन (कार्बेरिल के लिए यू. सी.सी. का ब्राण्ड नाम) के उत्पादन के लिए किया गया था, जिसमें मध्यवर्ती के रूप में मिथाइल आइसोसाइनेट (एम.आई.सी.) का उपयोग किया गया था।

भोपाल संयन्त्र के निर्माण के बाद, अन्य निर्माताओं (बेयर सहित) ने एम.आई.सी. के बिना कार्बेरिल का उत्पादन किया, हालाँकि अधिक विनिर्माण लागत पर।

1980 के दशक की शुरुआत में, हालाँकि कीटनाशकों की माँग में गिरावट आयी थी, लेकिन उत्पादन जारी रहा जिससे भोपाल साइट पर अप्रयुक्त एम.आई.सी. का संचय हुआ।

1976 में, दो स्थानीय ट्रेड यूनियनों ने प्लाण्ट के भीतर प्रदूषण की शिकायत की। 1981 में, प्लाण्ट के पाइपों का रखरखाव कार्य करते समय एक कर्मचारी पर गलती से फॉस्जीन की छींटें पड़ गयीं। घबराहट में, उसने अपना गैस मास्क हटा दिया और बड़ी मात्रा में जहरीली फॉस्जीन गैस अन्दर ले ली, जिससे 72 घण्टे बाद उसकी मौत हो गयी। इन घटनाओं के बाद, पत्रकार राजकुमार केसवानी ने जाँच शुरू की और भोपाल के स्थानीय अखबार रपट में अपने निष्कर्षों को प्रकाशित किया, जिसमें उन्होंने आग्रह किया ''भोपाल के लोगों, जाग जाओ, तुम एक ज्वालामुखी के किनारे पर हो।''

अगस्त 1982 में, एक रासायनिक इंजीनियर तरल एम.आई.सी. के सम्पर्क में आया, जिसके परिणामस्वरूप उसके शरीर का 30% से अधिक हिस्सा जल गया। अक्टूबर 1982 में, एक और एम.आई.सी. रिसाव हुआ। रिसाव को रोकने के प्रयास में, एम.आई.सी. पर्यवेक्षक को गम्भीर रासायनिक जलन का सामना करना पड़ा और दो अन्य कर्मचारी गम्भीर रूप से गैसों के सम्पर्क में आ गये। 1983 और 1984 के दौरान, एम.आई.सी., क्लोरीन, मोनोमेथिलमाइन, फॉस्जीन और कार्बन टेट्राक्लोराइड के रिसाव हुए।

भोपाल यू.सी.आई.एल. सुविधा में तीन भूमिगत 68,000 लीटर (18,000 अमेरिकी गैलन) तरल एम.आई.सी. भण्डारण टैंक थे–ई-610, ई-611 और ई-619। दिसम्बर में

रिसाव से पहले के महीनों में, तरल एम.आई. सी. उत्पादन प्रगति पर था और इन टैंकों को भरने के लिए इस्तेमाल किया जा रहा था। यू. सी.सी. सुरक्षा नियमों में निर्दिष्ट किया गया है कि किसी भी टैंक को तरल एम.आई.सी. से 50% (लगभग 30 टन) से अधिक नहीं भरा जाना चाहिए। प्रत्येक टैंक को निष्क्रिय नाइट्रोजन गैस से दबाया गया था। इस दबाव ने तरल एम. आई.सी. को आवश्यकतानुसार प्रत्येक टैंक से बाहर निकालने की अनुमति दी और टैंकों से अशुद्धियाँ और नमी भी बाहर रखी।

अक्टूबर 1984 के अन्त में, टैंक ई-610 ने अपने अधिकांश नाइट्रोजन गैस के दबाव को प्रभावी रूप से बनाये रखने की क्षमता खो दी, जिसका मतलब था कि इसके अन्दर मौजूद तरल MIC को बाहर पम्प नहीं किया जा सकता था।

फ्लेयर टॉवर के अभी भी बेकार होने के कारण, नवम्बर के अन्त में सेवा में अभी भी दो टैंकों में संग्रहीत मिथाइल आइसोसाइनेट का उपयोग करके कार्बेरिल का उत्पादन फिर से शुरू किया गया। 1 दिसम्बर को टैंक ई-610 में दबाव को फिर से स्थापित करने का प्रयास विफल रहा।

दिसम्बर 1984 की शुरुआत में, प्लाण्ट की अधिकांश एम.आई.सी. सम्बन्धित सुरक्षा प्रणालियाँ खराब हो गयी थीं और कई वाल्व और लाइनें खराब स्थिति में थीं। इसके अलावा, कई वेंट गैस स्क्रबर सेवा से बाहर हो गये थे, साथ ही पाइप को साफ करने के लिए स्टीम बॉयलर भी बन्द हो गया था। 2 दिसम्बर, 1984 की देर शाम के समय, ऐसा माना जाता है कि पानी टैंक ई-610 में एक साइड पाइप के माध्यम से प्रवेश कर गया था, जब इसे खोलने का प्रयास किया गया था। टैंक में अभी भी 42 टन एम.आई.सी. था जो अक्टूबर के अन्त से वहाँ था। टैंक में पानी के प्रवेश के परिणामस्वरूप एक अनियन्त्रित एक्सोथर्मिक प्रतिक्रिया हुई, जो दूषित पदार्थों, उच्च परिवेश के तापमान और विभिन्न अन्य कारकों जैसे गैर-स्टेनलेस स्टील पाइपलाइनों में जंग लगने से लोहे की उपस्थिति के कारण तेज हो गयी थी। टैंक ई-610 में दबाव, हालाँकि शुरू में रात 10.30 बजे 14 किलोपास्कल (2 पी.एस.आई.) पर नाममात्र था, 11 बजे तक 70 किलोपास्कल (10 पी.एस.आई.) तक पहुँच गया। दो अलग-अलग वरिष्ठ रिफाइनरी कर्मचारियों ने माना कि रीडिंग इंस्ट्रूमेंटेशन में खराबी थी। रात 11.30 बजे तक, एम.आई. सी. क्षेत्र के श्रमिकों को एम.आई.सी. गैस के मामूली सम्पर्क के प्रभाव महसूस हो रहे थे और उन्होंने रिसाव की तलाश शुरू कर दी। रात 11.45 बजे तक एक रिसाव पाया गया और उस समय ड्यूटी पर मौजूद एम.आई.सी. पर्यवेक्षक को इसकी सूचना दी गयी। 12.15 बजे के चाय ब्रेक के बाद समस्या का समाधान करने का निर्णय लिया गया और इस बीच, कर्मचारियों को रिसाव की तलाश जारी रखने का निर्देश दिया गया।

जब 12:40 बजे चाय का ब्रेक समाप्त हुआ, तो टैंक ई-610 में प्रतिक्रिया पाँच मिनट के भीतर खतरनाक गति से गम्भीर स्थिति में बढ़ गयी। टैंक में तापमान पैमाने से बाहर था, अधिकतम 25°C (77°F) से अधिक था, और टैंक में दबाव 280 किलोपास्कल (40 पीएसआई) पर इंगित किया गया था। एक कर्मचारी ने टैंक ई-610 के ऊपर एक कंक्रीट स्लैब को टूटते हुए देखा क्योंकि आपातकालीन राहत वाल्व खुल गया, और टैंक में दबाव 380 किलोपास्कल (55 पीएसआई) तक बढ़ गया, इसके बावजूद कि जहरीली मिथाइल आइसोसाइनेट गैस का वायुमण्डलीय वेंटिंग शुरू हो गया था।

स्वास्थ्य सेवा-प्रणाली तुरन्त ही अतिभारित हो गयी। गम्भीर रूप से प्रभावित क्षेत्रों में, लगभग 70% डॉक्टर अयोग्य थे। हजारों लोगों की मौत के लिए चिकित्सा कर्मचारी तैयार नहीं थे। डॉक्टरों और अस्पतालों को एम.आई. सी. गैस के साँस लेने के लिए उचित उपचार विधियों की जानकारी नहीं थी।

कुछ ही दिनों में आस-पास के पेड़ बंजर हो गये और फूले हुए जानवरों के शवों का निपटान करना पड़ा। 170,000 लोगों का अस्पतालों और अस्थायी औषधालयों में इलाज किया गया और 2,000 भैंस, बकरियाँ और अन्य जानवरों को इकट्ठा करके दफनाया गया। आपूर्तिकर्ताओं की सुरक्षा चिन्ताओं के कारण भोजन सहित आपूर्ति दुर्लभ हो गयी। मछली पकड़ने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया, जिससे आपूर्ति में और कमी आ गयी।

भारत सरकार ने 'भोपाल गैस रिसाव आपदा अधिनियम' पारित किया, जिसने सरकार को सभी पीड़ितों का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार दिया, चाहे वे भारत में हों या नहीं। सूचना की कमी या गलत सूचना की शिकायतें व्यापक थीं। भारत सरकार के एक प्रवक्ता ने कहा, ''कार्बाइड को हमारे राहत कार्य में मदद करने की अपेक्षा हमसे सूचना प्राप्त करने में अधिक रुचि है।''

1989 में, यू.सी.सी. ने आपदा से उपजे मुकदमे को निपटाने के लिए $470 मिलियन (2023 में $1.01 बिलियन के बराबर) का भुगतान किया। 1994 में, यू.सी. सी. ने यू.सी.आई.एल. में अपनी हिस्सेदारी एवरेडी इण्डस्ट्रीज इण्डिया लिमिटेड (ई. आई.आई.एल.) को बेच दी, जिसका बाद में मैकलियोड रसेल (इण्डिया) लिमिटेड के साथ विलय हो गया। एवरेडी ने 1998 में साइट पर सफाई का काम खत्म कर दिया, जब इसने अपना 99 साल का पट्टा समाप्त कर दिया और साइट का नियन्त्रण मध्य प्रदेश की राज्य सरकार को सौंप दिया। डॉव केमिकल कम्पनी ने आपदा के सत्रह साल बाद 2001 में यू.सी. सी. को खरीद लिया।

यू.सी.सी. और आपदा के समय यू.सी.सी. के मुख्य कार्यकारी अधिकारी वॉरेन एण्डरसन के खिलाफ संयुक्त राज्य अमेरिका में दायर दीवानी और आपराधिक मामलों को 1986 और 2012 के बीच कई मौकों पर खारिज कर दिया गया और भारतीय अदालतों में भेज दिया गया, क्योंकि अमेरिकी अदालतों ने यू.सी. आई.एल. पर भारत की एक स्वतन्त्र इकाई होने पर ध्यान केन्द्रित किया।

यू.सी.सी., यू.सी.आई.एल. और एण्डरसन की भागीदारी के साथ भारत के भोपाल के जिला न्यायालय में भी दीवानी और आपराधिक मामले दर्ज किये गये थे। जून 2010 में, सात भारतीय नागरिक जो 1974 में यू.सी.आई.एल. के कर्मचारी थे, जिनमें पूर्व यू.सी.आई.एल. के अध्यक्ष केशुब महिन्द्रा भी शामिल थे, को भोपाल में लापरवाही से मौत का दोषी ठहराया गया और दो साल के कारावास और प्रत्येक को लगभग 2000 डॉलर के जुर्माने की सजा सुनाई गयी, जो भारतीय कानून द्वारा दी जाने वाली अधिकतम सजा है। फैसले के तुरन्त बाद सभी को जमानत पर रिहा कर दिया गया।

■

उपन्यास में मिथक के प्रयोग

शोध लेख

नूतन कुमार झा

उपन्यास आधुनिक युग की उपज है—उस युग की, जिसका दृष्टिकोण सर्वथा व्यक्तिवादी हो गया है। समष्टि को दबाकर व्यक्ति ऊपर उठ आया है। इन्हीं परिस्थितियों का फल हमारा उपन्यास साहित्य है। उपन्यास वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है। उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचन्द के अनुसार—''मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल उद्देश्य है।''

लेखक के.बी. झा कॉलेज कटिहार में हिन्दी विभाग में सहायक प्रोफेसर हैं।
+917488791823
drnutankrjha@gmail.com

उपन्यास शब्द 'उप' तथा 'न्यास' के योग से बना है जिसका अर्थ है निकट रखी हुई वस्तु अर्थात् वह वस्तु या कृति जिसे पढ़कर ऐसा लगे कि वह हमारी ही है, इसमें हमारे ही जीवन का प्रतिबिम्ब है, इसमें हमारी ही कथा, हमारी ही भाषा में कही गयी है। आधुनिक युग में जिस साहित्य विशेष के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसकी प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए यह शब्द सर्वथा उपयुक्त है।

उपन्यास आधुनिक युग की उपज है–उस युग की, जिसका दृष्टिकोण सर्वथा व्यक्तिवादी हो गया है। समष्टि को दबाकर व्यक्ति ऊपर उठ आया है। इन्हीं परिस्थितियों का फल हमारा उपन्यास साहित्य है। उपन्यास वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है। उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचन्द के अनुसार–''मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल उद्देश्य है।''[1] न्यू इंगलिश डिक्शनरी में उपन्यास की परिभाषा देते हुए कहा गया है–''उपन्यास वृहत आकार का गद्य आख्यान या वृत्तान्त है जिसके अन्तर्गत वास्तविक जीवन के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाले पात्रों और कार्यों को कथानक में चित्रित किया जाता है।''[2]

वस्तुतः ये सब परिभाषाएँ एक ही बात पर जोर देती हैं कि उपन्यास में मानव-जीवन का प्रतिनिधित्व हो, घटनाएँ शृंखलाबद्ध हों तथा वास्तविकता की सेवा में नियोजित कल्पना हो।

उपन्यास की सर्वमान्य परिभाषा देना सम्भव नहीं है परन्तु व्यापक दृष्टि से कहा जा सकता है कि यह गद्य साहित्य का एक अन्यतम रूप है जिसका आधार कथा है–चाहे वह मनुष्यों की हो या मनुष्येतर जीव की अथवा चाहे वह सच्ची हो या कल्पित। कौतुहल की सृष्टि तथा मानवीय मनोवेगों के उद्दीपन द्वारा उसमें रोचकता तथा किसी सिद्धान्त सम्बन्धी विचारों की उत्तेजना द्वारा उसमें गरिमा का समावेश वांछनीय है। आज उपन्यास साहित्य की अत्यन्त ही विकसित विधा है। यही कारण है कि आज विभिन्न मिथकों से सम्बन्धित उपन्यास लिखे जा रहे हैं।

उपन्यास की मिथक से संरचनात्मक समानता उसके मुक्तिदायी प्रभाव में प्रकट होता है। श्रेष्ठ उपन्यासकार सामाजिक मूल्यों एवं व्यवस्थाओं का विद्रूप मात्र प्रस्तुत नहीं करता है वरन् उनका समाधान भी प्रस्तुत करता है। ''अँग्रेजी के उपन्यासों डेनियल डी. फो. का 'रोबिन्सन क्रूसो', जोनाथन स्विफ्ट का 'गुलीवर्स ट्रैवल्स' तथा 'फलाबेयर' का 'मादाम बोमारि'आदि में जो मिथक संचरित हो रहे हैं, वे किसी विशिष्ट दर्शन-पद्धति का विद्रूप प्रस्तुत करते हैं, किन्तु इस कथा में वैसा पाठक भी रस लेता है जिसने दर्शनशास्त्र के इतिहास का अध्ययन नहीं किया है। वे मिथकों का दोहन करते हैं। मिथकों के इस दोहन के पश्चात् उपन्यास के उद्देश्य एकाएक जादू की पुड़िया की तरह प्रकट हो जाते हैं और पाठक चमकृत हो जाते हैं। इस प्रकार मिथक वह काम कर दिखाता है जो हमें इस गोचर संसार में असम्भव प्रतीत होता है।''[3]

हिन्दी में मिथकीय आस्था को आधार

बनाकर लिखे गये उपन्यासों की संख्या बहुत कम है। वस्तुतः आस्था का सम्बन्ध व्यक्ति की निजता से हुआ करता है और वही मौलिकता का भी उद्‌भव स्रोत है।

''हिन्दी उपन्यास अपने उद्‌भव और विकास में प्रायः ही परोपजीवी रहा है। आरम्भ में बँगला के कुछ उपन्यासों का अनुवाद किया गया है। मूल लेखक बंकिम बाबू स्वयं अँग्रेजी के उपन्यासकारों से प्रभावित थे। हिन्दी में भी मौलिक उपन्यासों की सर्जना अँग्रेजी के अनुकरण पर हुई।''[4] आगे चलकर पौराणिक और ऐतिहासिक कथा-सामग्री को लेकर जो उपन्यास रचे गये उसमें मिथकों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। कुछ उल्लेखनीय लेखकों के नाम इस प्रकार है–हजारी प्रसाद द्विवेदी, रांगेय राघव, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, गुरुदत्त और भगवती चरण वर्मा आदि।

हिन्दी साहित्य में मिथक शब्द का प्रथम प्रयोग आचार्य हजारी द्विवेदी ने ही किया है। इनका लेखन सांस्कृतिक आस्था और औदात्य का उज्ज्वल उदाहरण है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'पुनर्नवा', 'चारू चन्द्रलेख' और 'अनामदास का पोथा' ये चार उनके श्रेष्ठ मिथकीय उपन्यास हैं। इन उपन्यासों में इतिहास और मिथकों का अद्‌भुत सम्मिश्रण है।

रांगेय राघव का क्षेत्र सुदूर अतीत रहा है। उनकी रुचि अतीत की नवीन प्रगतिशील व्याख्या करने में समर्थ रही है। 'अँधेरा रास्ता' या 'महायात्रा' नामक विशालकाय उपन्यास में उन्होंने प्रागैतिहासिक युग की घटनाओं को आधुनिक दृष्टि से कथाबद्ध किया है। उनके अन्य उपन्यासों 'मुर्दों का टीला' और 'जब आवेगी काली घटा' आदि उपन्यासों में मिथकीय वस्तुभूमियों की आधिकारिक अथवा प्रासंगिक रूप से कोई कमी नहीं है। धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' पूर्णतः मिथकीय उपन्यास है।

आचार्य चतुर सेन शास्त्री के उपन्यासों में भी मिथकों को परखा जा सकता है। 'वयंरक्षाम' में उन्होंने पौराणिक कथाओं के द्वारा आधुनिक समस्याओं को उजागर करने का प्रयास किया है। 'खग्रास' नामक उपन्यास में अन्तरिक्ष सम्बन्धी मिथक को बखूबी मूल्यांकित किया जा सकता है।

गुरुदत्त ने भी ढेर सारे मिथकीय विश्वासों पर आधारित उपन्यास लिखे हैं। उन्होंने बौद्ध मिथकों, पुराण मिथकों तथा इतिहास के मिथकों का सफल प्रयोग किया है। उनके 'प्रारब्ध और पुरुषार्थ' में ऐतिहासिक मिथकों को परखा जा सकता है।

डेनियल डी.फो. का 'रोबिन्सन क्रूसो', जोनाथन स्विफ्ट का 'गुलीवर्स ट्रैवल्स तथा फलाबेयर का 'मादाम बोमारि' आदि में जो मिथक संचरित हो रहे हैं, वे किसी विशिष्ट दर्शन-पद्धति का विद्रूप प्रस्तुत करते हैं, किन्तु इस कथा में वैसा पाठक भी रस लेता है जिसने दर्शनशास्त्र के इतिहास का अध्ययन नहीं किया है। वे मिथकों का दोहन करते हैं। मिथकों के इस दोहन के पश्चात् उपन्यास के उद्‌देश्य एकाएक जादू की पुड़िया की तरह प्रकट हो जाते हैं और पाठक चमकृत हो जाते हैं।

नरेन्द्र कोहली के 'दीक्षा', 'अवसर', 'संघर्ष की ओर' और 'युद्ध' चारों उपन्यासों में रामकथा के मिथक को बिल्कुल आधुनिक सन्दर्भ में प्रस्तुत किया गया है। इसी तरह श्री लालशुक्ल के 'राग दरबारी' में राजनीतिक मिथक का सफल प्रयोग हुआ है।

मनोहर श्याम जोशी के 'कुरु-कुरु स्वाहा' में जो व्यंग्य है, उसे राजनीतिक मिथक के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इसी प्रसंग में यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' का 'एक और मुख्यमन्त्री' सफल राजनीतिक मिथकवाला उपन्यास है। लक्ष्मीकान्त वर्मा के 'एक खाली कुर्सी की आत्मा' में भी राजनीतिक मिथकों को परखा जा सकता है।

इनके अतिरिक्त शिव प्रसाद सिंह की 'अलग-अलग वैतरणी', 'गली आगे मुड़ती है' तथा 'नीला चाँद' में भी मिथकों को परखा जा सकता है। प्रसिद्ध आँचलिक उपन्यासकार फणीश्वरनाथ 'रेणु' और नागार्जुन के उपन्यासों में लोक-मिथकों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। रेणु के 'मैला आँचल', 'परती परिकथा', 'जुलूस' तथा 'दीर्घतपा' में लोक-मिथकों का खूब प्रयोग हुआ है। नागार्जुन के 'बाबा बटेसर नाथ', 'बलचनमा' और 'पारो' में भी लोक-मिथकों का खूब प्रयोग हुआ है।

अन्त में निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि उपन्यासों में भी मिथकों के खूब प्रयोग हुए हैं और हो रहे हैं। उपन्यासों में जीवन की विद्रूपताओं को दिखाने में मिथक एक कारगर हथियार सिद्ध हो रहे हैं।

सन्दर्भ

1. कुछ विचार, पृष्ठ 38 साहित्य शास्त्र तथा समालोचन के सरल आयाम, डॉ. मिथिलेशरण मित्तल तथा प्रो. उर्मिलेश कुमार शंखधार (बरेली) स्टूडेण्ट स्टोर, 1976, पृष्ठ 218 से उद्धत।
2. वही, पृष्ठ 219 से उद्धत
3. जगदीश प्रसाद श्री वास्तव मिथकीय कल्पना और आधुनिक काव्य, पृष्ठ 334
4. रामचन्द्र तिवारी, हिन्दी का गद्य साहित्य, पृ. 105-107, मिथकीय कल्पना और आधुनिक काव्य जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव, पृष्ठ 334 से उद्धत।

■

स्त्री किसी की दासी नहीं

रक्षा गीता

सिनेमा

'पुनर्जन्म' के ताने-बाने और देवदासी पृष्ठभूमि पर बनी यह रोमांटिक फिल्म अन्त तक दर्शकों को बाँधे रखती है, क्योंकि इसका विषय मात्र 'पुनर्जन्म' से जुड़ा नहीं है। विज्ञान और तकनीक के इतने विकास के बाद भी 'पुनर्जन्म' की संकल्पना अनसुलझी पहेली है, तो स्त्री-शोषण की सदियों पुरानी देवदासी प्रथा आज भी अपने विकृत रूप में समाज का अंग है। विषय पुराना होते हुए भी रहस्य और जिज्ञासा के कारण फिल्म में आकर्षण है।

लेखिका कालिन्दी महाविद्यालय, दिल्ली के हिन्दी विभाग में असिस्टेण्ट प्रोफेसर हैं।
+919311192384
rakshageeta14@gmail.com

''सेक्स वर्कर्स को मिलेगा बीमा मातृत्व अवकाश पेंशन और बीमा की छुट्टी'' एक खबर का यह शीर्षक देखकर मैं चौंकी। पढ़ा तो पता चला कि 2022 बेल्जियम में वेश्यावृत्ति को वैध माना गया था और अब वहाँ नया कानून बना है जो यौनकर्मी की जिन्दगी को बेहतर बनाने में मददगार साबित होगा। यानी जो सरकारी सुविधाएँ-स्वास्थ्य-बीमा, मातृत्व अवकाश, पेंशन, बीमारी की छुट्टी आदि-सामान्य नौकरियों में मिलती हैं, यौनकर्मी को भी दी जाएँगी। इस कानून के तहत यौनकर्मी को रोजगार का कांट्रैक्ट मिलेगा, उसके अलावा काम के घण्टे, साफ-सफाई का ध्यान, सुरक्षा से जुड़े नियमों का पालन करना होगा। जिन कमरों में सेवाएँ दी जाती हैं, उसमें भी एक आपातकालीन अलार्म बटन लगाया जाएगा जिसका मकसद यौन-कर्मियों की सुरक्षा बढ़ाना है। यह अलार्म यौनकर्मी के 'रेफरेंस पर्सन' से जुड़ा होगा। तब मुझे याद आयी तेलगु मूल की फिल्म 'श्याम सिंह रॉय'।

'स्त्री किसी की दासी नहीं; भगवान की भी नहीं' तेलगु मूल की फिल्म 'श्याम सिंह रॉय' का यह संवाद आपको फिल्म देखने के लिए आकर्षित कर सकता है। अँग्रेजी 'सबटाइटल्स' के साथ फिल्म को हिन्दी पट्टी में भी खूब पसन्द किया जा रहा है। 'पुनर्जन्म' के ताने-बाने और देवदासी पृष्ठभूमि पर बनी यह रोमांटिक फिल्म अन्त तक दर्शकों को बाँधे रखती है, क्योंकि इसका विषय मात्र 'पुनर्जन्म' से जुड़ा नहीं है। विज्ञान और तकनीक के इतने विकास के बाद भी 'पुनर्जन्म' की संकल्पना अनसुलझी पहेली है, तो स्त्री-शोषण की सदियों पुरानी देवदासी प्रथा आज भी अपने विकृत रूप में समाज का अंग है। विषय पुराना होते हुए भी रहस्य और जिज्ञासा के कारण फिल्म में आकर्षण है।

नायक वासु जो कि एक संघर्षरत फिल्म लेखक व निर्देशक है, अपने कैरियर का आरम्भ एक सफल लघु फिल्म से करता है। उसकी सफलता उसे मुख्य सिनेमा में भी पहचान दिलवाती है। बहुत धीमी गति से प्रारम्भ फिल्म में रोचकता तब आती है जब वासु पर प्लैजिरिज्म यानी साहित्यिक चोरी का आरोप लगता है। दर्शक को लगता है कि फिल्म बिल्कुल नये विषय के साथ कहानी को आगे बढ़ाएगी क्योंकि डिजिटल युग में साहित्यिक चोरी यानी प्लैजिरिज्म जैसा मुद्दा महत्त्वपूर्ण और चिन्ता का विषय है जिस पर अंकुश लगाना लगभग असम्भव है, फिर फिल्मी दुनिया में तो यह आम बात है जिसका कई दफा पता भी नहीं चल पाता। खैर यह तथ्य मूल कहानी के सिरे को जोड़ने के लिए अनिवार्य था, इसलिए निराशा नहीं होती। प्लैजिरिज्म के आरोप में उसे प्रेस कॉन्फ्रेन्स से ही गिरफ्तार कर लिया जाता है। कोर्ट के दृश्य जिज्ञासा उत्पन्न करते हैं कि अब क्या होगा? कथा आगे बढ़ती है। बंगाल के प्रसिद्ध

एस. आर. पब्लिकेशन के लेखक-निर्देशक वासु पर आरोप है कि उसने 70 के दशक के प्रसिद्ध लेखक, एस. आर. पब्लिकेशन के संस्थापक श्याम सिंह रॉय की कहानी की हू-ब-हू नकल की है। पात्रों के नाम तक बिल्कुल वही है। कथा पढ़कर खुद वासु भी हैरान है कि यह कैसे हो सकता है? क्या वास्तव में उसने नकल की है? वासु इस आरोप से बार-बार इनकार करता है 'लाई डिटेक्टर टेस्ट' भी यही स्पष्ट करता है कि उसने कहानी नहीं चुरायी फिर सत्य क्या है? सत्य के कुछ बिन्दु हमें एक मनोचिकित्सक द्वारा वासु को हिप्नोटाइज करने के दौरान पता चलते हैं। कहानी रहस्य से पर्दा हटाने के स्थान पर और रहस्यमयी हो जाती है, जब हिप्नोटाइज के दौरान वासु कहता है यह 1969 है, और फिर बंगाल का एक गाँव जहाँ से एक नयी कथा आरम्भ होती है। इतना तो समझ आता है कि यह पुनर्जन्म का कोई खेल है। इस खेल को समझने के लिए आपको फिल्म देखनी पड़ेगी। रहस्य और रोमांच के बीच रोमांस का खूबसूरत दृश्यांकन और फिल्म का उद्देश्य आपको निराश नहीं करेगा, जिसमें स्त्री के सम्मान और गौरव को 'स्त्री किसी की दासी नहीं; भगवान की भी नहीं' संवाद के माध्यम से रेखांकित किया जा सकता है।

दूसरे भाग में बंगाल का सांस्कृतिक, सामाजिक और सामन्तवादी परिवेश फिल्म में जीवन्त हो उठा है। श्याम सिंह रॉय सामन्तवादी वर्ण-व्यवस्था के खिलाफ आवाज उठाता है। दृश्य है कि निम्न मानी जाने वाली जाति के लोगों को कुएँ से पानी नहीं लिया जाने दे रहा तो श्याम उस आदमी को ही कुएँ में फेंक देता है और सामन्ती सवर्णों को धमकी देता है कि 'अब या तो यही पानी पियो या इनकी तरह प्यासे रहो'। दर्शकों को लगता है कहानी आजकल के दक्षिणी सिनेमा में लोकप्रिय लेकिन ज्वलन्त मुद्दे जाति-प्रथा, वर्ण-व्यवस्था को लेकर आगे बढ़ेगी लेकिन यहाँ दर्शक पुनः धोखा खा जाता है, बल्कि थोड़ा आगे बढ़ने पर लगता है कि फिल्म नक्सलवादी जंगलों में लेकर जायेगी। लेकिन कहानी का मूल बिन्दु एक देवदासी (मैत्रयी) और श्याम सिंह रॉय (नानी) की प्रेम-कहानी है जो अत्यन्त रोचकता से आगे बढ़ती है।

वस्तुतः देवदासी प्रथा हमारे इतिहास और संस्कृति का एक वीभत्स चेहरा है, और यह बड़े दुःख की बात है कि कानून बनने के बावजूद धर्म के नाम पर आज भी यह घिनौनी प्रथा जारी है। आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, तेलंगाना, महाराष्ट्र आदि राज्यों में यह प्रथा अपने बदले हुए रूप में आज भी स्त्रियों के लिए अभिशाप है। बदनाम कहानीकार मण्टो का एक संवाद है कि ''आप शहर में खूबसूरत और नफीस गाड़ियाँ देखते हैं, ये खूबसूरत और नफीस गाड़ियाँ कूड़ा-करकट उठाने के काम नहीं आ सकतीं, गन्दगी और गलाजत उठाकर बाहर फेंकने के लिए और गाड़ियाँ मौजूद है, जिन्हें आप कम देखते हैं और अगर देखते हैं तो फौरन अपनी नाक पर रूमाल रख लेते हैं। इन गाड़ियों का वजूद जरूरी है और उन औरतों का भी वजूद जरूरी है जो आपकी गलाजत उठाती हैं अगर ये औरतें न होतीं तो हम सब, हमारे सब गली-कूचे मर्दों की गलीज हरकत से भरे होते।'' समाज के इस नग्न और वीभत्स यथार्थ को कोई स्वीकार नहीं करना चाहता। इसलिए मण्टो को भी साहित्य से खारिज करने के खूब प्रयास हुए। उन पर मुकदमे चले, जबकि यौनकर्म विश्व की सबसे पुरानी वृत्ति है। भारत, चीन, यूनान, रोम आदि प्राचीन सभ्यताओं में इसके इतिहास मिलते हैं। गणिकाओं से तवायफों और वेश्याओं तक की कहानियाँ समाज और साहित्य में बिखरी हुई हैं। इनमें देवदासी प्रथा धर्म की आड़ में स्त्री- शोषण का सबसे निकृष्ट उदाहरण है। भारत की बात करें तो यहाँ 'वेश्यावृति' यौनकर्म को विविध नियमों-उपनियमों के साथ कानून की सुरक्षा प्राप्त है, जहाँ स्त्री को पीड़ित माना जाता है क्योंकि इस पेशे में अधिकतर लड़कियाँ मजबूरी में, बहला-फुसलाकर अथवा मानव तस्करी के अन्तर्गत आ फँसती हैं। भारत में ही नहीं अधिकतर देशों में इसे हेय दृष्टि से देखा जाता है और एक सामाजिक कलंक की तरह ही माना जाता है। श्याम सिंह रॉय फिल्म इसलिए ही खास है, क्योंकि यह फिल्म 'देवदासी' को देव बने सामन्तों-महन्तों के चंगुल से बचाकर एक मानवी के रूप में स्थापित करने का प्रयास है। सच कहूँ तो ऐसा लगा था कि देवदासी कुप्रथा 80-90 के दशक में कानून बनने के बाद समाप्त हो गयी है, लेकिन अफसोस यह अन्दाजा गलत था।

लगभग छठी सदी से प्रारम्भ देवदासी प्रथा का वर्णन मत्स्य पुराण, विष्णु पुराण, कौटिल्य के अर्थशास्त्र, कालिदास के मेघदूत आदि में मिलता है। दक्षिण भारत की मशहूर शास्त्रीय गायिका भारत रत्न एम.एस. सुब्बलक्ष्मी और पद्म विभूषण बालासरस्वती देवदासी समुदाय से हैं। देवदासी यानी 'सर्वेंट ऑफ गॉड' मन्दिरों की देखरेख, पूजा-पाठ की तैयारी, मन्दिरों में नृत्य-संगीत के लिए तैयार की जाती थीं, जो आजीवन कुमारी रहकर ईश्वर को अपनी कला समर्पित करती थीं। देवदासी प्रथा के पीछे यह विश्वास प्रचलित और प्रचारित किया गया कि देवदासी होने पर गाँव में कोई विपत्ति नहीं आती, सुख-शान्ति बनी रहती। कालान्तर में आर्थिक विवशता और कमजोर सामाजिक पृष्ठभूमि ने इस प्रथा को विकसित और विकृत भी करने में योगदान दिया क्योंकि परिवार और उनके समुदाय से मान्यता मिलने लगी और यह प्रथा कुप्रथा में बदल गयी।

कई भारतीय और विदेशी विद्वानों ने इस देवदासी प्रथा पर शोध पुस्तकें लिखी हैं। रितेश शर्मा अपनी डॉक्यूमेंट्री फिल्म 'द होली वाइव्स' में देवदासियों के कटु यथार्थ को हमारे सामने लेकर आते हैं। यह डॉक्यूमेंट्री फिल्म कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश और मध्य प्रदेश राज्य में प्रचलित यौन-दासता पर आधारित है, जहाँ भगवान के नाम पर स्त्री का शोषण होता है। फिल्म यूट्यूब पर उपलब्ध है। मेनस्ट्रीम सिनेमा में इस विषय पर बात नहीं होती। श्याम सिंह रॉय फिल्म देवदासी प्रथा पर बंगाल की पृष्ठभूमि पर बात कर रही है। सम्भवतः फिल्मकार और निमार्ता जान रहे होंगे कि यदि दक्षिण भारतीय पृष्ठभूमि पर इस कुप्रथा को चित्रित किया तो धार्मिक और सांस्कृतिक स्तर

श्याम सिंह रॉय सामन्तवादी वर्ण-व्यवस्था के खिलाफ आवाज उठाता है। दृश्य है कि निम्न मानी जाने वाली जाति के लोगों को कुएँ से पानी नहीं लिया जाने दे रहा तो श्याम उस आदमी को ही कुएँ में फेंक देता है और सामन्ती सवर्णों को धमकी देता है कि 'अब या तो यही पानी पियो या इनकी तरह प्यासे रहो'।

पर इसे स्वीकार तो नहीं ही किया जाएगा विरोध की भी सम्भावनाएँ बनेंगी। इसलिए बंगाल में भी इसे 60-70 के दशक से जोड़कर पुनर्जन्म की संकल्पना का लाभ लेते हुए प्रस्तुत किया गया है। वैसे पुनर्जन्म पर भारतीय सिनेमा में कई फिल्में बनी होंगी। हिन्दी की मधुमती और नीलकमल पुनर्जन्म पर आधारित सफल फिल्में थीं। देवदासी प्रथा के विरोध में कानून बनने के बाद भी वास्तविकता यह है कि 2018 में एक विदेशी गैर-सरकारी संस्था और कर्नाटक राज्य महिला विश्वविद्यालय की ओर से किये गये अध्ययन में कर्नाटक में देवदासियों की संख्या 90,000 पायी गयी। इसी प्रकार 25 अगस्त, 2021 की दैनिक भास्कर की एक खबर के अनुसार नेशनल लॉ स्कूल आफ इण्डिया यूनिवर्सिटी ऑफ टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज के सह-लेखक बिनसी विल्सन ने लिखा कि देवदासी प्रथा 'खुले राज' जैसी है। पूरे समाज को देवदासी–लड़कियों के बारे में पता है लेकिन वे इसे अपराध के रूप में नहीं मानते, बल्कि इसे सामाजिक संस्था के रूप में देखते हैं। एक संस्कृति का पूरा हिस्सा इसको स्वीकार किये हुए है और जो कानून बने हैं वे लागू नहीं किये गये।

फिल्म ने देवदासी प्रथा पर न केवल बात की अपितु क्रान्तिकारी ढंग से प्रस्तुतिकरण भी दिया लेकिन अफसोस जहाँ इसके साथ ही रिलीज हुई पुष्पा जैसी मसाला फिल्मों को अति लोकप्रिय बनाया जा रहा है जहाँ नायक ही नायिका का चुम्बन और मुस्कान खरीदने की बात कर रहा है, वह इसके लिए 5000 रुपये देने को तैयार है। नायक की इस हरकत को मासूमियत से जोड़ा जा रहा है, क्योंकि वह नायक है खलनायक नहीं। इसमें स्त्री की विवशता को कहीं भी रेखांकित नहीं किया गया, वहीं दूसरी ओर स्त्री के सम्मान में बनी इस महत्त्वपूर्ण फिल्म श्याम सिंह रॉय पर बहुत कम बात हुई। फिल्म में कई कमियाँ हो सकती हैं जैसे पुनर्जन्म की अवैज्ञानिकता। इसके बावजूद महत्त्वपूर्ण विषय केन्द्र में लाने में फिल्म ने बेहतरीन पहल की है। हम जानते हैं फिल्में समाज पर त्वरित प्रभाव डालती हैं। देवदासी जैसी सामाजिक समस्या पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए फिल्म की प्रशंसा होनी चाहिए।

शरतचन्द्र के कई उपन्यासों में कई वेश्याओं को उत्तम चरित्र की महिलाओं के रूप में रेखांकित किया गया है, जिसमें देवदास उपन्यास की चन्द्रमुखी सबसे प्रमुख है। सिनेमा में कई महत्त्वपूर्ण अभिनेत्रियाँ या फिर उनकी माताएँ इस काम से जुड़ी हुई थीं, लेकिन फिल्मों में कला की उपासक तवायफों की बात करें तो उनका बहुत ही नकारात्मक पक्ष प्रस्तुत किया जाता है। इसकी वजह से यौनकर्मी को समाज से बहिष्कृत माना गया है।

हमारे समाज या नगर में आज यौनकर्मियों को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता है, बल्कि उनको घृणा से देखते हैं। हालाँकि सुप्रीम कोर्ट

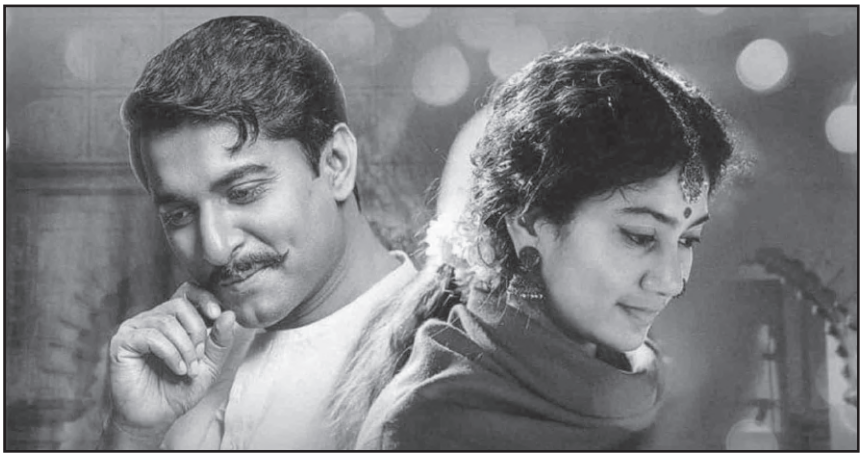

ने कहा है कि इस पेशे को भी सम्मान और सुरक्षा मिलनी चाहिए, क्योंकि वे कहीं-न-कहीं पीड़ित ही हैं। उन्हें और उनके बच्चों को भी सामाजिक सुरक्षा और शिक्षा मिलनी चाहिए, ताकि वे समाज में सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकें। इस फिल्म में भी नायिका देवदासी उन लड़कियों की रक्षा करती है जिन्हें जबरदस्ती इस काम में धकेला जा रहा है। फिल्म के एक दृश्य में जब महन्त एक छोटी-सी बच्ची को अपने साथ ले जाने के लिए आगे बढ़ता है तो नायिका उसके चरणों में गिर जाती है कि मुझे ले जाओ पर इसे छोड़ दो। महन्त क्रोधित हो, उसके ऊपर पेशाब कर देता है। यह दृश्य हमें भीतर तक से झिंझोड़कर रख देता है कि देवदासी यानी तथाकथित ईश्वर की सेविकाओं के साथ कैसा घिनौना व्यवहार हुआ करता है। तब नायक महन्त को मार देता है, जिस वजह से उसका भाई श्याम सिंह रॉय की हत्या कर देता है ताकि भविष्य में उसके घर पर कोई और आँच न आएँ। तब नायिका संकल्प लेती है और एक आश्रम बनाती है जहाँ इस तरह की कमजोर छोटी लड़कियों की मदद की जाती है, उन्हें शिक्षा मिलती है। कुल मिलाकर जो काम सरकार के होने चाहिए उन्हें आज भी एन.जी.ओ. जैसी संस्थाएँ करती हैं, क्योंकि राजनीति तो धर्म का लाभ ही उठाना जानती है। अन्त में नाटकीय ढंग से नये जन्म के लेखक निर्देशक और पुराने समय की देवदासी का मिलन हो जाता है जो एक आदर्शवादी सुखद अन्त है।

फिल्मांकन की बात करें तो देवदासी के रूप में साईं पल्लवी आपको मोहित कर देती है। आदिवासी समुदाय की पल्लवी अपने नैसर्गिक सौन्दर्य या मधुर मुस्कान के कारण ही नहीं अपितु शानदार अभिनय और नृत्य के बलबूते फिल्म को आगे बढ़ाने में सफल रही। उसका सौम्य और स्वाभाविक अभिनय कहानी को विश्वसनीय बनाता है और साथ में डबल रोल में नानी का शानदार अभिनय फिल्म में प्राण फूँकने का काम करता है। कोलकाता का काली मन्दिर, उसके भीतर देवदासियों के अन्तरमहल, उनके आभूषण, वस्त्र, महन्त आदि देखकर एक पल को आपको लगेगा कि बँगला फिल्म देख रहे हैं, बल्कि नानी ने कुछ संवाद जिस खूबसूरती से बँगला में बोले आप रोमांचित हुए बिना नहीं रह सकते। फिल्म के गीत भी कर्णप्रिय हैं खैर यह फिल्म अन्त तक बाँधे रखती है। स्त्री सम्मान और शक्ति को महत्त्व देने वाली इस फिल्म को देखना एक अच्छा अनुभव रहेगा। फिल्म नेटफ्लिक्स पर उपलब्ध है।

■

लिये लुकाठी हाथ

ऑपरेशन अँग्रेजी

नूपुर अशोक

''नारायण-नारायण''–कहते हुए नारद मुनि ने प्रवेश किया–''प्रभुगण किस चिन्ता से त्रस्त हैं?''

आज 1947 ईसवी का पन्द्रह अगस्त है। मर्त्यलोक में भारतवर्ष नामक देश ने आज स्वतन्त्रता संग्राम में विजय प्राप्त कर ली है। जिस तरह एकजुट होकर इन्होंने यह विजय प्राप्त की है, अगर इनकी एकता इसी तरह बनी रही तो वह दिन दूर नहीं जब ये हम देवताओं से भी शक्तिशाली हो जाएँगे। कोई मार्ग बताएँ मुनिवर।

मार्ग अत्यन्त सरल है प्रभु! इस बार फिर सरस्वती माता का सहयोग अपेक्षित है।

सरस्वती माता का? वे अस्त्र-शस्त्र विहीन, वे इस शक्ति के सामने क्या कर सकेंगी?

प्रभुगण आप शायद भूल रहे हैं कि उनके पास दो सबसे शक्तिशाली अस्त्र हैं–विचार और वाणी!

नारद जी ने अपनी बात को स्पष्ट करते हुए कहा–''याद कीजिये त्रेतायुग में जब लंकापति की शक्ति बढ़ती जा रही थी तो उसका दमन करने के लिए हमने सरस्वती माता का ही उपयोग किया था, जिन्होंने मन्थरा के विचार और वाणी को भ्रमित करके रामचन्द्र को हमारे निर्धारित पथ पर भिजवा दिया था। इस बार भी इसी तरह की योजना बनानी होगी और 'ऑपरेशन अँग्रेजी' लांच करना पड़ेगा।''

परन्तु मुनिवर, उन दिनों तो राजतन्त्र था। उस समय तो राज्य के उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न करके ही उनका अभीष्ट सिद्ध हो गया था, किन्तु इस स्वतन्त्र प्रजातन्त्र में क्या किया जा सकता है?

स्वतन्त्र! जब तन्त्र 'स्व' का है तो संशय भी 'स्व' पर ही किया जाएगा।

'स्व' पर? लेकिन कोई भला अपने-आप पर संशय कैसे कर सकता है?

यही तो भ्रम की महिमा है प्रभु! उनके मन में यह भ्रम उत्पन्न किया जाएगा कि जो उनका अपना है वह हीन है, तुच्छ है, जो पराया है वही महान है।

लेकिन इन लोगों ने तो अभी-अभी पराये लोगों को अपने देश से बाहर निकालकर 'स्व'तन्त्रता प्राप्त की है। उन्होंने परदेशी लोगों का केवल शरीर बाहर निकाला है, हम उनकी आत्मा को इसी भारतवर्ष में रखेंगे।

-अर्थात्?

-अर्थात् उनके विचार, व्यवहार, संस्कार सब यहीं रहेंगे। इन अदृश्य शक्तियों को कोई देख नहीं पाएगा और इनके जाल में बद्ध होकर ये भारतवासी अपनी मूल शक्तियों को भूल शक्तिहीन हो जाएँगे।

क्या यह सम्भव है?

शत-प्रतिशत सम्भव है। इसी के लिए हमें सरस्वती देवी की सहायता चाहिए। उन्हें भारतवर्ष में आंग्ल भाषा की पताका फहरानी होगी। परन्तु भारतवर्ष ने तो अभी-अभी अपना राष्ट्रध्वज फहराया है। वे किसी और की पताका क्यों स्वीकार करेंगे?

यही तो भ्रम का चमत्कार है। उन्हें हर विदेशी वस्तु अपने से बेहतर प्रतीत होगी। मैं आपको उनके भविष्य का एक 'प्रोजेक्शन' दिखाता हूँ। उसे देखकर आपको मेरी योजना पर विश्वास हो जाएगा।

नारद मुनि ने अपने कमण्डल के जल में एक मेढक को डालकर उसे बुझी हुई हवन अग्नि पर रख दिया और प्रोजेक्शन शुरू किया–भारतवर्ष के सभी पुरुष अपनी वेषभूषा त्याग चुके थे। अमीर–गरीब सभी ने विदेशी शर्ट-पैंट-कोट-टाई पहनी हुई थी।

इतनी गरम जलवायु में इन लोगों ने कोट-टाई क्यों पहन रखे हैं? क्या इन्हें कष्ट नहीं हो रहा? हो रहा है प्रभु, लेकिन महानता का भ्रम जो है।

'प्रोजेक्शन' आगे बढ़ा। भारतवर्ष के घरों से आँगन-आसन गायब थे। भूमि से कोई सम्पर्क न रह सके इसके लिए हर कक्ष में टाँगों वाली कुर्सियाँ, मेज और पलँग मौजूद थे। यहाँ तक कि शौचालय में भी।

नारद जी ने 'ऑडियो' ऑन किया ताकि वहाँ की बातचीत सुनी जा सके। बताया कि वहाँ जन्म-दिन की तैयारी हो रही है। लेकिन देवताओं को कोई भी परिचित वस्तु दिखी नहीं।

नारद जी मुस्कराये–भगवन्, व्यर्थ चेष्टा न करें। आप जिस पूजा-आरती-मंगलकामना को ढूँढ़ रहे हैं, वे यहाँ नहीं मिलेंगी। यहाँ आपको विदेशी केक मिलेगा। मोमबत्तियाँ फूँकी जाएँगी, अँग्रेजी में बधाई गान गाया जाएगा।

परन्तु शुभ दिन तो दीप जलाना चाहिए, बुझाते क्यों हैं?

प्रभु, 'क्यों' कोई नहीं पूछता, बस विदेशी परम्पराओं की नकल करते हैं।

मुनिवर, आपने इतना विराट परिवर्तन कैसे किया इस देश में?

बस भाषा बदलकर! बताया था ना आपको–''ऑपरेशन अँग्रेजी''।

बस भाषा?

जी, हमने बस इनके मन में अँग्रेजी भाषा का मोह उत्पन्न किया फिर उससे जुड़ी हर चीज ये अपनाते चले गये और अपनी हर चीज छोड़ते चले गये। अब इनकी बोली, वेशभूषा, आचार, व्यवहार, विचार-संस्कार सब अँग्रेजी प्रभाव से आच्छादित हैं।

नारद जी ने भारतवर्ष के सत्तर साल बाद का फ्यूचर प्रोजेक्शन दिखाया। लोग '30 दिनों में अँग्रेजी सीखें' के बोर्ड के सामने लाइन लगाये खड़े थे। अब न उन्हें सही हिन्दी आती थी, न ही पूरी अँग्रेजी और न ही उनके अन्दर कोई आत्मविश्वास बचा था। 'ऑपरेशन अँग्रेजी' कामयाब हो चुका था।

देवताओं के मुखमण्डल से चिन्ता का भाव तिरोहित हो चुका था। अब इस देश के शक्तिशाली हो जाने की कोई आशंका नहीं थी।

प्रोजेक्शन बन्द हुआ। नारद जी ने अपना कमण्डल उठाया। मेढक की निष्प्राण देह उसके जल में तैर रही थी। बुझी हुई हवन अग्नि ने धीरे-धीरे जल के तापमान को कब प्राणघातक बना दिया था, कमण्डल में तैर रहे मेढक को खुद भी भान नहीं हुआ था।

■

लेखिका कवयित्री, चित्रकार एवं सॉफ्ट स्किल ट्रैनर हैं।
+919831171151
dr.nupurjaiswal@gmail.com

रंग एक दरवाजा है...

चित्रकार मनोज छावड़ा की कला में रंग एक दरवाजा है, जो प्रेक्षक को शब्दों की ओर लेकर जाता है। वरिष्ठ कवि प्रताप सोमवंशी ने अपनी शायरी में अपने समय को जो अभिव्यक्ति दी है उसे रंगों में आश्रय दिया है चित्रकार मनोज छावड़ा ने।

देव प्रकाश चौधरी

महान डच कलाकार पीटर ब्रूगेल की एक महत्त्वपूर्ण पेंटिंग है, ''लैंडस्केप विद द फॉल ऑफ इकारस''। इस पेंटिंग को देखकर इसी शीर्षक से लैटिन अमेरिकी मूल के कवि विलियम कार्लोस विलियम्स ने एक कविता लिखी। उस समय कला आलोचकों के लिए यह एक कठिन काम था कि दोनों कृतियों में से किसे श्रेष्ठ कहा जाए।

यह काम मुझे आज भी तब कठिन लगा, जब मैं चित्रकार मनोज छावड़ा की उस पेंटिंग प्रदर्शनी में पहुँचा, जहाँ उन्होंने वरिष्ठ कवि प्रताप सोमवंशी की शायरी पर बनाए हुए चित्रों की प्रदर्शनी लगायी थी। मेरे सामने रंगों की कविता थी और नेपथ्य में शब्दों की कविता। मैं सोच में पड़ गया कि आखिर यह रिश्ता क्या कहलाता है?

देव प्रकाश चौधरी
वरिष्ठ कला समीक्षक

कला और कविता के रिश्ते के लिए एक शब्द है– एकफ्रैस्टिक। यह शब्द ग्रीक शब्द एक्फ्रैसिस से आया है, जिसका अर्थ है कला के किसी कार्य का लिखित वर्णन। लेकिन यहाँ मेरे सामने लिखे हुए शब्दों का रंगीन वर्णन था। कवि प्रताप सोमवंशी अल्पशब्दों के कवि हैं। कम शब्दों में बड़ी बात कह देते हैं–''परिन्दे सिर्फ इतना चाहते हैं–शिकारी हो शिकारी बनकर आओ।'' मात्र दस शब्दों में कवि ने अपने समय को अभिव्यक्ति दी है। और शब्दों की इस अभिव्यक्ति को रंगों में आश्रय दिया है कलाकार मनोज छावड़ा ने।

नई दिल्ली के रफी मार्ग पर स्थित आईफैक्स कला दीर्घा में मनोज छावड़ा के प्रदर्शित चित्रों के सामने मैं जब तक रहा, शब्दों से रंगों और रंगों से शब्दों की ओर यात्रा करता रहा। लगभग चार साल पहले वरिष्ठ कवि प्रताप सोमवंशी की एक किताब आयी थी–''इतवार छोटा पड़ गया।'' किताब चित्रकार मनोज छावड़ा के पास पहुँची तो उन्होंने शायरी में उठे सवालों के जवाब रंगों में देने की जिद पकड़ ली। चार साल लगे, अब उनके चित्रों की प्रदर्शनी लगी है।

रोमन कवि होराटियस फ्लैकस ने एक पेंटिंग को शब्दों के बिना एक कविता माना है। लम्बे समय से कला और कविता एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं, उनका सम्बन्ध मानव अभिव्यक्ति का एक समृद्ध ताना-बाना बनाता रहा है।

संस्कृतियों और सदियों में, कलाकारों और कवियों ने एक-दूसरे से प्रेरणा ली है। कला के अन्य रूपों की तुलना में पेंटिंग और कविता के बीच का सम्बन्ध विशेष रूप से घनिष्ठ है। ये दोनों कला अनुभव को जीवन्त, केन्द्रित तरीके से व्यक्त करने की इच्छा से निकलते हैं। हालाँकि कविता के साथ हमारा संवाद ज्यादा मुखर होता है और कई बार कविता पढ़ने के बहुत देर बाद तक हम उसकी प्रतिध्वनि महसूस कर सकते हैं। वहीं दूसरी ओर पेंटिंग के पार आकार से ज्यादा रंगों की ताकत होती है जो हमें सम्मोहित करती है। जापानी स्याही चित्रकला जिसे 'हाइगा' के नाम से ज्यादा जाना जाता है, कला और कविता के रिश्ते पर ही आधारित है। यहाँ चित्रित छवि और लिखित शब्द हमेशा एक-दूसरे से जुड़े रहते हैं। इसमें कम-से-कम ब्रश स्ट्रोक का इस्तेमाल होता है, लेकिन मनोज छावड़ा की कला में 'हाइगा' की छाया नहीं दिखती। उनकी कला कविता पर

चित्रकार
मनोज छावड़ा

आधारित जरूर है, लेकिन उन कृतियों का स्वतन्त्र अस्तित्व भी है। मेरी राय में कविता टाइम की कला है और चित्रकला स्पेस की कला है। चित्रकार मनोज छावड़ा अपने स्पेस को अच्छी तरह पहचानते हैं। उनके पास कला का जो ग्रामर है, उसमें रंगों के बीच कोई विरोध देखने को नहीं मिलता। रंग एक-दूसरे को सपोर्ट करते हैं। ऐसे में उनकी कला और वरिष्ठ कवि प्रताप सोमवंशी की कविता एक साथ मिलकर मानवीय अनुभव की एक कलात्मक झलक पेश करते हैं और प्रेक्षकों को दुनिया के साथ नये और गहन तरीकों से जुड़ने के लिए आमन्त्रित करते हैं। ■

ISSN 2277-5897 SABLOG PEER REVIEWED JOURNAL

लोक चेतना का राष्ट्रीय मासिक

सबलोग

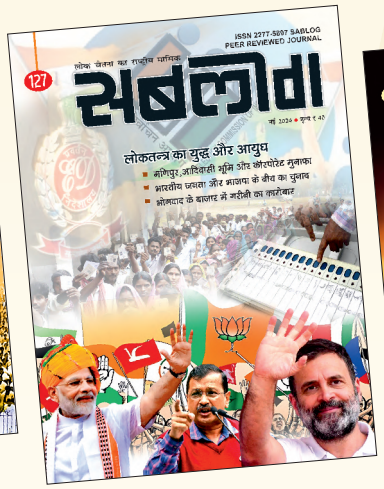

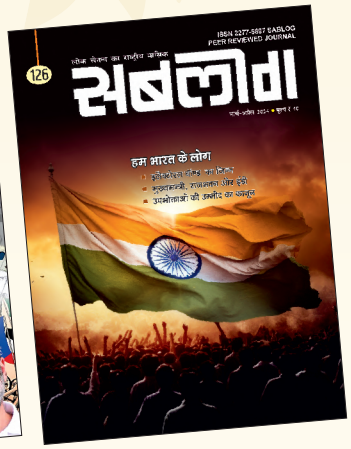

'सबलोग' की शुरुआत तब हुई जब समाज से विचार को बेदखल करने के वैश्विक अभियान की हवा तेज थी, जो आज दूनी रफ्तार से चल रही है, जब वैमनस्य बढ़ाने वाली और समरसता को भंग करने वाली राजनीति अपना विस्तार करने लगी थी और जब लोकतन्त्र को विकलांग बनाने के लिए उसके सभी खम्भों को हिलाया जाने लगा था।

2009 में निकले पहले अंक में आजादी के बाद का मूल्यांकन किया गया था। तब से आज तक यह हिन्दी के उन लेखकों की पसन्द बनी हुई है जो विचारपरक लेखन से बेहतर दुनिया बनाने का मोर्चा सम्भालते रहे हैं। 'सबलोग' जहाँ अपने प्रिण्ट एडिशन में किसी ज्वलन्त और जरूरी मुद्दे पर अभियान की तरह गहन विचार-विमर्श का मासिक आयोजन करती है वहीं अपने पोर्टल पर यह समकालीनता के केन्द्रीय बिन्दु के आसपास प्रखर वैचारिकता से लैस बहुआयामी विमर्श की दैनिक प्रस्तुति से पाठकों को एक खास अन्दाज में आकर्षित करती है।

यह अकारण नहीं कि आज 'सबलोग' वैकल्पिक मीडिया की विश्वस्त आवाज बनी हुई है। यह आवाज दूर तक जाए और इस आवाज का असर भी हो इसके लिए आपके भरोसे और सहयोग की जरूरत है।

कृपया 'सबलोग' को अर्थसहयोग करें।

सबलोग

खाता संख्या : 49480200000045

बैंक ऑफ बड़ौदा

शाखा : बादली, दिल्ली

IFSC - BARB0TRDBAD

Scan to pay with any UPI app